श्रीमती पानबाईजीका परिचय

श्रीमती पानबाई उपनाम पन्नो बीबी लाला बनारसीदासजी नाहर जौहरी लखनऊकी पुत्री थीं। आपका पितृकुल बहुत प्रतिष्ठित है। आपके दादा नवाब वाजिद अलीशाहके जौहरी व मुकीम थे। वि० सं० १९४१ में आपका जन्म हुआ और दस वर्षकी उम्रमें लाला चिम्मनलालजी चोरड़िया के पुत्र लाला बाबूलालजीसे विवाह हुआ। उस वक्त वरकी उम्र १४ साल की थी और वह छठे दर्जेमें पढ़ते थे। आपका खानदान भी बहुत प्रतिष्ठित था, जो कि अबतक लाला गुलाबचन्द छुट्टनलाल जौहरी आगरावालोंके नाम से समस्त जैन ओसवाल समाजमें प्रसिद्ध है। विवाह बहुत धूमधामसे हुआ। किन्तु विवाहसे लौटनेके बादही बाबूलालजी बीमार पड़ गये और ८ महीने तक बीमार रहकर सदाके लिये चल बसे। उनकी मृत्युसे दोनों कुटुम्बों पर रंजका पहाड़ टूट पड़ा। श्रीमती पानबाईकी ददिया सास और सासने इस समय बड़े धीरजसे काम लिया और पानबाईको दिलासा देकर उसे बड़े प्यारसे रक्खा। ददिया सासके गुजर जानेके बादसे इनके वैधव्य जीवनका अधिक भाग अपनी मांके संसर्गमें ही बीता। आपकी माता बड़ी धर्मात्मा थीं। उनके साथमें पानबाईने सैकड़ों बार तीर्थयात्रा की और खूब तपस्यामय जीवन बिताया। माता-पिताकी मृत्यु होजानेके बाद वे आगरा या लखनऊ रहा करती थीं। प्रतिदिन सामायिक, प्रतिक्रमण, पूजा-पाठ आदि किया करती थीं। पठनपाठनकी ओर उनकी अच्छी रुचि थी किन्तु उनका विशेष लक्ष तीर्थयात्रा व तपस्यामें रहता था। जैसे जैसे तपस्या करती

थीं, निर्बल होती जाती थीं। इसीसे प्रायः बीमार रहा करती थीं। कुछ वर्ष पहले उनके छोटे भाई शिखरचन्दजी चल बसे। उसके बाद उनके बड़े भाई बाबू केसरीचन्दजी बीमार पड़े, जिनकी इन्होंने तीन महीने तक सेवा की। मगर वह भी गुजर गये। उनके गुजरते ही इनकी दशा पागलोंकीसी होगई और यह बीमार पड़ गईं। लखनऊमें बहुत कुछ इलाज करनेपर भी जब कोई लाभ न हुआ तो अपने छोटे भाई खेमचन्दजीसे कहकर आगरासे अपने श्वसुरालयमेंसे बाबू दयालचन्दजी जौहरीको बुलवाया और उनसे आगरा ले चलनेकी प्रेरणा की। बाबू दयालचन्दजी अपने भतीजे धर्मचन्दजीके साथ बड़ी कठिनाईसे उन्हें आगरा लेगये। वहां तेरह दिनतक जीवित रहकर और सबसे क्षमा मांगकर जेठबदो १४ सं० १९९७ को ५६ वर्षकी उम्रमें परलोक सिधार गईं। मरते समय वे ज्ञानदानमें ५००) पंचमकर्मग्रन्थके सहायतार्थ देगई थीं। जिसके लिये मंडल उनका आभारी है।

प्रकाशकका वक्तव्य

प्रिय पाठको !

जिस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये यह पुस्तकप्रचारक मण्डल आजसे २० वर्ष पहिले जारी किया गया था कि हिन्दीभाषा भाषियोंके पढ़नेके लिये धार्मिक ग्रन्थ तैयार किये जावें, उसकी पूर्ति करनेके लिये अन्य कई ग्रन्थोंका प्रकाशन होनेके सिवाय चार भाग इस ग्रन्थके श्री पं० सुखलालजीके कर कमलोंसे लिखने व छपनेके बाद कितने ही पाठकोंकी उत्कट अभिलाषा देखते हुए जो कि चौथे कर्मग्रन्थके छपनेके बादसे चल रही थी, सम्वत् १९९८ से पाँचवें कर्मग्रन्थको तैयार करनेका विचार मण्डलने किया। यद्यपि यह काम तैयारी व खर्चके ख्यालसे सरल नहीं था, तब भी बार बार यह ख्याल करके कि कर्मग्रन्थके छहों भाग मण्डलसे छपकर निकल जावें तो एक बहुत बड़े कामकी पूर्ति हो जाती है, अतः इसके लिये पं० सुख-लालजीसे बार २ प्रार्थना की गई। मगर पण्डितजीको दूसरे ग्रन्थोंकी तैयारी में लगे रहनेसे बिलकुल फ़ुरसत न मिलती थी। तब उनसे प्रार्थना की गई कि वह अपनी देख-रेखमें दूसरे किसी पण्डितसे तैयार करा देवें। इसपर उन्होंने गौर करके श्री पं० कैलाशचन्द्रजीको इस विषयके योग्य पण्डित समझकर उनके सुपुर्द किया, जिन्होंने सतत परिश्रमके बाद इसको तैयार किया। इस ग्रन्थमें दूसरे पण्डितोंके कर्मग्रन्थोंसे खास २ खूबियाँ जो हैं उसको तो पाठकगण खुद समझ लेंगे। इसके लिये हम पं० सुखलालजी व पं० कैलाशचन्द्रजी दोनोंके अति आभारी हैं कि जिन्होंने हमारे पाँचवें कर्म-ग्रन्थके छपनेके विचारको कार्यरूपमें प्रस्तुत किया। साथ ही हम श्रीमती पानबाई जी आगराके भी आभारी हैं कि जिन्होंने अपने जीवनमें ५००) सहा-यताका वचन देकर उसको पूरा किया।

मन्त्री—जवाहरलाल नाहटा।
दयालचन्द्र जौहरी।

पूर्वकथन

कर्मग्रन्थोंके हिन्दी अनुवादके साथ तथा हिन्दी अनुवादप्रकाशक आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डलके साथ मेरा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि इस अनुवादके साथ भी पूर्वकथन रूपसे कुछ न कुछ लिख देना मेरे लिए अनिवार्य सा हो जाता है।

जैन वाङ्मयमें इस समय जो श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय कर्म-शास्त्र मौजूद हैं उनमेंसे प्राचीन माने जानेवाले कर्मविषयक ग्रन्थोंका साक्षात् सम्बन्ध दोनों परम्पराएँ आग्रायणीय पूर्वके साथ बतलाती हैं। दोनों पर-म्पराएँ आग्रायणीय पूर्वको दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्गान्तर्गत चौदह पूर्वोंमेंसे दूसरा पूर्व कहती हैं और दोनों श्वेताम्बर दिगम्बर परम्पराएँ समानरूपसे मानती हैं कि सारे अङ्ग तथा चौदह पूर्व यह सब भगवान् महावीरकी सर्वज्ञ वाणीका साक्षात् फल है। इस साम्प्रदायिक चिरकालीन मान्यताके अनुसार मौजूदा सारा कर्मविषयक जैन वाङ्मय शब्दरूपसे नहीं तो अन्ततः भावरूपसे भगवान् महावीरके साक्षात् उपदेशका ही परम्परा प्राप्त सारमात्र है। इसी तरह यह भी साम्प्रदायिक मान्यता है कि वस्तुतः सारी अङ्गविद्याएँ भावरूपसे केवल भगवान् महावीरकी ही पूर्वकालीन नहीं, बल्कि पूर्व पूर्वमें हुए अन्यान्य तीर्थङ्करोंसे भी पूर्वकालकी अतएव एक तरहसे अनादि हैं। प्रवाहरूपसे अनादि होनेपर भी समय समयपर होनेवाले नव नव तीर्थङ्करोंके द्वारा वे पूर्व पूर्व अङ्गविद्याएँ नवीन नवीनत्व धारण करती हैं। इसी मान्यताको प्रकट करते हुए कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रने प्रमाणमीमांसामें, नैयायिक जयन्त भट्टका अनुकरण करके बड़ी खूबीसे कहा है कि—"अनादय एवैता विद्याः संक्षेपविस्तरविवक्षया नव-

नद्योभवन्ति, न तत्कर्तृकाश्चोत्पद्यन्ते । किन्त्वाशौचीः न कदाचिद-
नीदृशं जगत् ।"

उक्त साम्प्रदायिक मान्यता ऐसी है कि जिसको साम्प्रदायिक लोग आजतक अक्षरशः मानते आए हैं और उसका समर्थन भी वैसे ही करते आए हैं जैसे मीमांसक लोग वेदोंके अनादित्वकी मान्यताका। साम्प्रदायिक लोग दो प्रकारके होते हैं—बुद्धि-अप्रयोगी श्रद्धालु जो परम्पराप्राप्त वस्तुको बुद्धिका प्रयोग बिना किए ही श्रद्धामात्रसे मान लेते हैं और बुद्धिप्रयोगी श्रद्धालु जो परम्पराप्राप्त वस्तुको केवल श्रद्धासे मान ही नहीं लेते पर उसका बुद्धिके द्वारा यथा सम्भव समर्थन भी करते हैं । इस तरह साम्प्रदायिक लोगोंमें पूर्वोक्त शास्त्रीय मान्यताका आदरणीय स्थान होनेपर भी इस जगह कर्मशास्त्र और उसके मुख्य विषय कर्मतत्त्वके सम्बन्धमें एक दूसरी दृष्टिसे भी विचार करना प्राप्त है । वह दृष्टि है ऐतिहासिक ।

एक तो जैन परम्परामें भी साम्प्रदायिक मानसके अलावा ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेका युग कभीसे आरम्भ हो गया है और दूसरे यह कि मुद्रण युगमें प्रकाशित किए जानेवाले मूल तथा अनुवाद ग्रन्थ जैनों तक ही सीमित नहीं रहते । जैनतर भी उन्हें पढ़ते हैं । सम्पादक, लेखक, अनुवादक और प्रकाशकका ध्येय भी ऐसा रहता है कि वे प्रकाशित ग्रन्थ किस तरह अधिकाधिक प्रमाणमें जैनेतर पाठकोंके हाथमें पहुँचे । कहनेकी शायद ही जरूरत हो कि जैनेतर पाठक साम्प्रदायिक हो नहीं सकते । अत एव कर्मतत्त्व और कर्मशास्त्रके बारेमें हम साम्प्रदायिक दृष्टिसे कितना ही क्यों न सोचें और लिखें फिर भी जब तक उसके बारेमें हम ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार न करेंगे तब तक हमारा मूल एवं अनुवाद प्रकाशनका उद्देश्य ठीक ठीक सिद्ध हो नहीं सकता । साम्प्रदायिक मान्यताओंके स्थानमें ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेके पक्षमें और भी प्रबल दलीलें हैं । पहली तो यह कि अब धीरे धीरे कर्मविषयक जैन वाङ्मयका प्रवेश

जहाँ कहीं प्रवर्तकधर्मका उल्लेख आता है, वह सब इसी त्रिपुरुषार्थवादी दलके मन्तव्यका सूचक है। इसका मन्तव्य संक्षेपमें यह है कि धर्म-शुभकर्मका फल स्वर्ग और अधर्म-अशुभकर्मका फल नरक आदि है। धर्माधर्म ही पुण्य-पाप तथा अदृष्ट कहलाते हैं और उन्हींके द्वारा जन्म जन्मान्तरकी चक्रप्रवृत्ति चला करती है, जिसका उच्छेद शक्य नहीं है। शक्य इतना ही है कि अगर अच्छा लोक और अधिक सुख पाना हो तो धर्म ही कर्तव्य है। इस मतके अनुसार अधर्म या पाप तो हेय हैं; पर धर्म या पुण्य हेय नहीं। यह दल सामाजिक व्यवस्थाका समर्थक था, अतएव वह समाजमान्य शिष्ट एवं विहित आचरणोंसे धर्मकी उत्पत्ति बतलाकर तथा निन्द्य आचरणों से अधर्मकी उत्पत्ति बतलाकर सब तरहकी सामाजिक सुव्यवस्थाका ही संकेत करता था। वही दल ब्राह्मणमार्ग, मीमांसक और कर्मकाण्डी नामसे प्रसिद्ध हुआ।

कर्मवादिओंका दूसरा दल उपर्युक्त दलसे बिलकुल विरुद्ध दृष्टि रखनेवाला था। वह मानता था कि पुनर्जन्मका कारण कर्म अवश्य है। शिष्टसम्मत एवं विहित कर्मोंके आचरणसे धर्म उत्पन्न होकर स्वर्ग भी देता है। पर वह धर्म भी अधर्मकी तरह ही सर्वथा हेय है। इसके मतानुसार एक चौथा स्वतन्त्र पुरुषार्थ भी है जो मोक्ष कहलाता है। इसका कथन है कि एकमात्र मोक्ष ही जीवनका लक्ष्य है और मोक्षके वास्ते कर्ममात्र, चाहे वह पुण्यरूप हो या पापरूप, हेय है। यह नहीं कि कर्मका उच्छेद शक्य न हो। प्रयत्नसे वह भी शक्य है। जहाँ कहीं निवर्तक धर्मका उल्लेख आता है वहाँ सर्वत्र इसी मतका सूचक है। इसके मतानुसार जब आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति शक्य और इष्ट है तब इसे प्रथम दलकी दृष्टिके विरुद्ध ही कर्मकी उत्पत्तिका असली कारण बतलाना पड़ा। इसने कहा कि धर्म और अधर्मका मूल कारण प्रचलित सामाजिक विधि-निषेध नहीं; किन्तु अज्ञान और राग-द्वेष है। कैसा ही शिष्टसम्मत और विहित सामाजिक आचरण

बल्कि इस दृश्यमान लोकके अलावा और भी श्रेष्ठ कनिष्ठ लोक हैं। वे पुनर्जन्म और परलोकवादी कहलाते थे और वे ही पुनर्जन्म और परलोकके कारणरूपसे कर्मतत्त्वको स्वीकार करते थे। इनकी दृष्टि यह रही कि अगर कर्म न हो तो जन्म जन्मान्तर एवं इहलोक-परलोकका सम्बन्ध घट ही नहीं सकता। अतएव पुनर्जन्मकी मान्यताके आधारपर कर्मतत्त्वका स्वीकार आवश्यक है। ये ही कर्मवादी अपनेको परलोकवादी तथा आस्तिक कहते थे।

कर्मवादिओंके मुख्य दो दल रहे। एक तो यह प्रतिपादित करता था कि कर्मका फल जन्मान्तर और परलोक अवश्य है, पर श्रेष्ठ जन्म तथा श्रेष्ठ परलोकके वास्ते कर्म भी श्रेष्ठ ही चाहिये। यह दल परलोकवादी होनेसे तथा श्रेष्ठलोक, जो स्वर्ग कहलाता है, उसके साधनरूपसे धर्मका प्रतिपादन करनेवाला होनेसे, धर्म-अर्थ-काम ऐसे तीन ही पुरुषार्थोंको मानता था, उसकी दृष्टिमें मोक्षका अलग पुरुषार्थ रूपसे स्थान न था।

जरथोस्त्रियनधर्मरूपसे विकसित हुई। और भारतमें आनेवाली याज्ञिक प्रवर्तक धर्मकी शाखाका निवर्तक धर्मवादिओंके साथ प्रतिद्वन्द्वीभाव शुरू हुआ। यहाँके पुराने निवर्तक धर्मवादी आत्मा, कर्म, मोक्ष, ध्यान, योग, तपस्या आदि विविधि मार्ग यह सब मानते थे। वे न तो जन्मसिद्ध चातुर्वर्ण्य मानते थे और न चातुराश्रम्यकी नियत व्यवस्था। उनके मतानुसार किसी भी धर्मकार्यमें पतिके लिए पत्नीका सहचार अनिवार्य न था प्रत्युत त्यागमें एक दूसरेका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता था। जबकि प्रवर्तक धर्ममें इससे सब कुछ उल्टा था। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें गार्हस्थ्य और त्यागाश्रमकी प्रधानतावाले जो संवाद पाय जाते हैं वे उक्त दोनों धर्मोंके विरोधसूचक हैं। प्रत्येक निवृत्ति धर्मवालेके दर्शनके सूत्रग्रन्थोंमें मोक्षको ही पुरुषार्थ लिखा है जबकि याज्ञिक मार्गके सब विधान स्वर्गलक्षी बतलाए हैं। आगे जाकर अनेक अंशोंमें उन दोनों धर्मोंका समन्वय भी हो गया है।

जहाँ कहीं प्रवर्तकधर्मका उल्लेख आता है, वह सब इसी त्रिपुरुषार्थवादी दलके मन्तव्यका सूचक है। इसका मन्तव्य संक्षेपमें यह है कि धर्म-शुभकर्मका फल स्वर्ग और अधर्म-अशुभकर्मका फल नरक आदि है। धर्माधर्म ही पुण्य-पाप तथा अदृष्ट कहलाते हैं और उन्हींके द्वारा जन्म जन्मान्तरकी चक्रप्रवृत्ति चला करती है, जिसका उच्छेद शक्य नहीं है। शक्य इतना ही है कि अगर अच्छा लोक और अधिक सुख पाना हो तो धर्म ही कर्तव्य है। इस मतके अनुसार अधर्म या पाप तो हेय हैं, पर धर्म या पुण्य हेय नहीं। यह दल सामाजिक व्यवस्थाका समर्थक था, अतएव वह समाजमान्य शिष्ट एवं विहित आचरणोंसे धर्मकी उत्पत्ति बतलाकर तथा निन्द्य आचरणोंसे अधर्मकी उत्पत्ति बतलाकर सब तरहकी सामाजिक सुव्यवस्थाका ही संकेत करता था। वही दल ब्राह्मणमार्ग, मीमांसक और कर्मकाण्डी नामसे प्रसिद्ध हुआ।

कर्मवादिओंका दूसरा दल उपर्युक्त दलसे बिल्कुल विरुद्ध दृष्टि रखनेवाला था। यह मानता था कि पुनर्जन्मका कारण कर्म अवश्य है। शिष्टसम्मत एवं विहित कर्मोंके आचरणसे धर्म उत्पन्न होकर स्वर्ग भी देता है। पर वह धर्म भी अधर्मकी तरह ही सर्वथा हेय है। इसके मतानुसार एक चौथा स्वतन्त्र पुरुषार्थ भी है जो मोक्ष कहलाता है। इसका कथन है कि एकमात्र मोक्ष ही जीवनका लक्ष्य है और मोक्षके वास्ते कर्ममात्र, चाहे वह पुण्यरूप हो या पापरूप, हेय है। यह नहीं कि कर्मका उच्छेद शक्य न हो। प्रयत्नसे वह भी शक्य है। जहाँ कहीं निवर्तक धर्मका उल्लेख आता है वहाँ सर्वत्र इसी मतका सूचक है। इसके मतानुसार जब आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति शक्य और इष्ट है तब इसे प्रथम दलकी दृष्टिके विरुद्ध ही कर्मकी उत्पत्तिका असली कारण बतलाना पड़ा। इसने कहा कि धर्म और अधर्मका मूल कारण प्रचलित सामाजिक विधि-निषेध नहीं; किन्तु अज्ञान और राग-द्वेष है। कैसा ही शिष्टसम्मत और विहित सामाजिक आचरण

क्यों न हो पर अगर वह अज्ञान एवं रागद्वेष मूलक है तो उससे अधर्मकी ही उत्पत्ति होती है। इसके मतानुसार पुण्य और पापका भेद स्थूल दृष्टि-वालोंके लिए है। तत्त्वत: पुण्य और पाप सब अज्ञान एवं रागद्वेषमूलक होनेसे अधर्म एवं हेय ही है। यह निवर्तक धर्मवादिदल सामाजिक न होकर व्यक्तिविकासवादी रहा। जब इसने कर्मका उच्छेद और मोक्ष पुरुषार्थ मान लिया तब इसे कर्मके उच्छेदक एवं मोक्षके जनक कारणोंपर भी विचार करना पड़ा। इसी विचारके फलस्वरूप इसने जो कर्मनिवर्तक कारण स्थिर किए वही इस दलका निवर्तक धर्म है। प्रवर्तक और निवर्तकधर्मकी दिशा बिलकुल परस्पर विरुद्ध है। एकका ध्येय सामाजिक व्यवस्थाकी रक्षा और सुव्यवस्थाका निर्माण है जब दूसरेका ध्येय निजी आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति है, अतएव मात्र आत्मगामी है। निवर्तक धर्म ही श्रमण, परिव्राजक, तपस्वी और योगमार्ग आदि नामोंसे प्रसिद्ध है। कर्मप्रवृत्ति अज्ञान एवं रागद्वेष जनित होनेसे उसकी आत्यन्तिक निवृत्तिका उपाय अज्ञानविरोधी सम्यग् ज्ञान और रागद्वेषविरोधी रागद्वेषनाशरूप संयम ही स्थिर हुआ। बाकीके तप, ध्यान, भक्ति आदि सभी उपाय उक्त ज्ञान और संयमके ही साधनरूपसे माने गए!

निवर्तक धर्मवादिओंमें अनेक पक्ष प्रचलितथे। यह पक्ष भेद कुछ तो वादोंकी स्वभाव-मूलक उग्रता-मृदुताका आभारी था और कुछ अंशोंमें तत्त्वज्ञानकी जुदी जुदी प्रक्रियापर भी अवलंबित था। ऐसे मूलमें तीन पक्ष रहे जान पड़ते हैं। एक परमाणुवादी, दूसरा प्रधानवादी और तीसरा परमाणुवादी होकर भी प्रधानकी छायावाला था। इसमेंसे पहला परमाणु-वादी मोक्ष समर्थक होनेपर भी प्रवर्तकधर्मका उतना विरोधी न था जितने कि पिछले दो। यही पक्ष आगे जाकर न्याय-वैशेपिक दर्शनरूपसे प्रसिद्ध हुआ। दूसरा पक्ष प्रधानवादी था और वह आत्यन्तिक कर्मनिवृत्तिका

जुदे जुदे विपाकोंकी काल मर्यादाएँ सोचीं। कर्मोंके पारस्परिक संबंधपर विचार किया। इसतरह निवर्तक धर्मवादिओंका खासा कर्मतत्त्वविष शास्त्र व्यवस्थित हो गया और इसमें दिन प्रतिदिन नये नये प्रश्नों उ उनके उत्तरोंके द्वारा अधिकाधिक विकास भी होता रहा। ये निवर्तक ध वादी जुदे जुदे पक्ष अपने सुभीतेके अनुसार जुदा जुदा विचार करते पर जबतक इन सबका संमिलित ध्येय प्रवर्तक धर्मवादका खण्डन रहा तक उनमें विचार विनिमय भी होता रहा और उनमें एकवाक्यता रही। यही सबब है कि न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, जैन और बौद्ध द के कर्मविषयक साहित्यमें परिभाषा, भाव, वर्गीकरण आदिका शब्दशः अ अर्थशः साम्य बहुत कुछ देखनेमें आता है, जब कि उक्त दर्शनोंका मौज साहित्य उस समयकी अधिकांश पैदाइश है जिस समय कि उक्त दर्शनों परस्पर सद्भाव बहुत कुछ घट गया था। मोक्षवादियोंके सामने एक जटि समस्या पहलेसे यह थी कि एक तो पुराने बद्धकर्म ही अनन्त हैं, दू उनका क्रमशः फल भोगनेके समय प्रत्येकक्षणमें नये नये भी कर्म बंधते फिर इन सब कर्मोंका सर्वथा उच्छेद कैसे संभव है, इस समस्याका ह भी मोक्षवादिओंने बड़ी खूबीसे किया था। आज हम उक्त निवृत्तिवा दर्शनोंके साहित्यमें उस हलका वर्णन संक्षेप या विस्तारसे एकसा पाते हैं यह वस्तुस्थिति इतना सूचित करनेके लिए पर्याप्त है कि कभी निवर्तक वादिओंके भिन्न भिन्न पक्षोंमें खूब विचार विनिमय होता था। यह स कुछ होते हुए भी धीरे धीरे ऐसा समय आगया जब कि ये निवर्तकवा पक्ष आपसमें प्रथम जितने नजदीक न रहे। फिर भी हरएक पक्ष कर्मतत्त्व के विषयमें ऊहापोह तो करता ही रहा। इस बीचमें ऐसा भी हुआ कि किसी निवर्तक वादिपक्षमें एक खासा कर्मचिन्तक वर्गही स्थिर हो गया

अन्य विषयके खास चिन्तक वर्ग अपने अपने विषयमें किया करते थे और आज भी करते हैं। वही मुख्यतया कर्मशास्त्रका चिन्तकवर्ग जैन दर्शनका कर्मशास्त्रानुयोगधर वर्ग या कर्मसिद्धान्तज्ञ वर्ग है।

कर्मके बंधक कारणों तथा उसके उच्छेदक उपायोंके बारेमें तो सब मोक्षवादी गौण मुख्यभावसे एक मतही हैं पर कर्मतत्त्वके स्वरूपके बारेमें ऊपर निर्दिष्ट खास कर्मचिन्तक वर्गका जो मन्तव्य है उसे जानना जरूरी है। परमाणुवादी मोक्षमार्गी वैशेषिक आदि कर्मको चेतनानिष्ठ मानकर उसे चेतनधर्म बतलाते थे जब कि प्रधानवादी सांख्य-योग उसे अन्तःकरण स्थित मानकर जड़धर्म बतलाते थे। परन्तु आत्मा और परमाणुको परिणामी माननेवाले जैन चिन्तक अपनी जुदी प्रक्रियाके अनुसार कर्मको चेतन और जड़ उभयके परिणामरूपसे उभयरूप मानते थे। इनके मतानुसार आत्मा चेतन होकर भी सांख्यके प्राकृत अन्तःकरणकी तरह संकोच विकासशील था, जिसमें कर्मरूप विकार भी संभव है और जो जड़ कर्माणुओंके साथ एक-रस भी हो सकता है। वैशेषिक आदिके मतानुसार कर्म चेतनधर्म होनेसे वस्तुतः चेतनसे जुदा नहीं और सांख्यके अनुसार कर्म प्रकृतिधर्म होनेसे वस्तुतः जड़से जुदा नहीं। जब कि जैन चिन्तकोंके मतानुसार कर्मतत्त्व चेतन और जड़ उभयरूप ही फलित होता है जिसे वे भाव और द्रव्यकर्म भी कहते हैं। यह सारी कर्मतत्त्व संबंधी प्रक्रिया इतनी पुरानी तो अवश्य है जब कि कर्मतत्त्वके चिन्तकोंमें परस्पर विचारविनिमय अधिकाधिक होता था। यह समय कितना पुराना है यह निश्चयरूपसे तो कहाही नहीं जा सकता पर जैनदर्शनमें कर्मशास्त्रका जो चिरकालसे स्थान है, उस शास्त्रमें जो विचारोंकी गहराई, शृंखलाबद्धता तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावोंका असाधारण निरूपण है इसे ध्यानमें रखनेसे यह बिना माने काम नहीं चलता कि जैन दर्शनकी विशिष्ट कर्मविद्या भगवान् पार्श्वनाथके पहले अवश्य स्थिर हो चुकी थी। इसी विद्याके धारक कर्मशास्त्रज्ञ कहलाए और

यही विद्या आग्रायणीय पूर्व तथा कर्मप्रवाद पूर्वके नामसे विश्रुत हुई। ऐतिहासिक दृष्टिसे पूर्वशब्दका मतलब भगवान् महावीरके पहलेसे चला आनेवाला शास्त्र विशेष है। निःसंदेह ये पूर्व वस्तुतः भगवान् पार्श्वनाथके पहलेसे ही एक या दूसरे रूपमें प्रचलित रहे। एक ओर जैन चिन्तकोंने कर्मतत्त्वके चिन्तनकी ओर बहुत ध्यान दिया जब कि दूसरी ओर सांख्य-योगने ध्यानमार्गकी ओर सविशेष ध्यान दिया। आगे जाकर जब तथागत बुद्ध हुए तब उन्होंने भी ध्यानपर ही अधिक भार दिया। पर सबोंने विरासतमें मिले कर्मचिन्तनको अपना रखा। यही सबब है कि सूक्ष्मता और विस्तारमें जैन कर्मशास्त्र अपना असाधारण स्थान रखता है। फिर भी सांख्य-योग, बौद्ध आदि दर्शनोंके कर्मचिन्तनोंके साथ उसका बहुत कुछ साम्य है और मूलमें एकता भी है जो कर्मशास्त्रके अभ्यासिओंके लिए ज्ञातव्य है।

सामान्यरूपसे संक्षित ऐतिहासिक अवलोकन करनेके बाद अब मैं प्रस्तुत अनुवाद तथा अनुवादक आदिके बारेमें थोड़ा लिख देना जरूरी समझता हूँ। जब मैंने ई० स० १९१७ से १९१९ तकमें चार कर्मग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद किया तब मेरे कुछ संभावित मित्रोंने मुझसे कहा कि तुम कर्मग्रन्थ जैसे मामूली विषयोंपर शक्ति क्यों खर्च करते हो? पर मैंने अपना अनुवाद पूरा ही किया। मेरी धारणा पहलेसे यह तो थी ही कि भारतीय दर्शनोंमें जो सांप्रदायिकता घुस गई है, ज्ञानके क्षेत्रमें भी जो चौकावृत्ति बंध गई है वह तुलनात्मक तटस्थ अध्ययनके द्वारा ही मिट सकती है। इस धारणाके अनुसार मैंने कर्मग्रन्थोंके अनुवादके साथ प्रस्तावना, परिशिष्ट आदि रूपसे कुछ न कुछ लिखा। मैंने उस समय यह सोच लिया था कि कर्मतत्त्वके बारेमें भी ऐसा लिखना कि जिससे सहोदर भाई जैसे श्वेताम्बर-दिगम्बर दो फिरके कमसे कम ज्ञानके प्रदेशमें तो एक

दूसरेका साहित्य पढ़ें। इस विचारके अनुसार चारों कर्मग्रन्थोंके अनुवादोंमें उत्तरोत्तर श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थोंके आधारपर अधिकाधिक तुलना मैंने की थी। आगे मेरा इरादा यह था कि पांचवें छठे कर्मग्रन्थोंके अनुवादोंमें तो और भी विशेष तुलना करूँ। पांचवें कर्मग्रन्थका दो तिहाई अनुवाद मैंने कर भी लिया था और उसकी कापियां आगरा रखी थीं। मैं उसे पूरा करूँ इसके पहले ही अहमदाबाद चला गया और अन्य प्रवृत्तिमें वह काम छूट गया। जब कभी आगरा जाता तो उन कापियोंको संभाल लेता। फिर भी अवसर न आया कि उसे मैं पूरा करूँ। अन्ततः वे कापियां भी गुम हुईं। इधर मेरे पुराने मित्र बाबू दयालचन्दजीका बार बार अनुरोध होता रहा कि बाकीके कर्मग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद पूरा हो। मैं ऐसे योग्य आदमीकी तलाशमें था कि जो इस कामके लिए पूरा क्षम हो। काशीमें पं० कैलाशचन्द्रजी परिचित थे। और वे धर्मशास्त्रके अध्यापक भी हैं। उनकी विचार तथा लेखनशैलीसे [illegible] मैं पूरा परिचित था। अतएव मैंने उन्हींसे पंचमकर्मग्रन्थका अनुवाद करनेको कहा। उन्होंने मेरा अनुरोध और [illegible] होते हुए भी मान लिया और बहुत श्रमसे इस अनुवादको तैयार किया।

पं० कैलाशचन्द्रजी दिगंबरीय कर्मसाहित्यके तो पारगामी थे ही, पर जब मैंने उनसे मेरी अनुवादविषयक दृष्टि [illegible] तब उन्होंने श्वेताम्बरीय कर्मविषयक प्राचीन अर्वाचीन [illegible] संपूर्ण साहित्य [illegible] और फलतः यह अनुवाद तुलनात्मक दृष्टिसे तैयार किया। मैंने अबतक चार अनुवादोंमें दिगंबरीय साहित्यकी तुलना की पर वह उतनी न थी जितनी कि इस अनुवादमें है। [illegible] है। [illegible] दिगम्बरीय [illegible] है। इसलिए प्रस्तुत अनुवादमें श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय कर्मशास्त्र [illegible] हैं [illegible] हैं। [illegible]

गनके बाद ही लिखी है। उनकी भाषा तो मानो विशद प्रवाह है। इस तरह मुझे जो पांचवें कर्मग्रन्थका अनुवाद न कर सकनेका असंतोष था वह इस अनुवादसे दूर ही नहीं हुआ बल्कि एक प्रकारका संतोषलाभ भी हुआ है। इस अनुवादके द्वारा श्वेताम्बरीय अभ्यासिओंको दिगम्बर परंपराका तत्त्व जाननेकी बहुत कुछ सामग्री मिलेगी। और जो दिगम्बरीय अभ्यासी इस अनुवादको पढ़ेंगे उन्हें श्वेताम्बरीय वाङ्मयका गौरव भी अनुभूत होगा। पं० कैलाशचन्द्रजी दिगम्बर परंपराके हैं। उनके किए अनुवादकी ओर अगर दिगंबर परंपराके अभ्यासिओंका ध्यान गया तो निःसंदेह वे मौजूदा ज्ञानधरातलसे बहुत कुछ ऊंचा उठेंगे। और उनका ज्ञानका दायरा विस्तीर्ण होगा। पंडितजीने अनुवाद पूरा करनेके बाद मुझको सुनाया तब अमुक भाग सुननेके बाद मैंने उसे तज्ज्ञ सहृदय मित्र हीराचन्द देवचन्दको अहमदाबाद देखनेके वास्ते भेज दिया, जैसा कि मैं अपने अनुवादोंके बारेमें भी करता रहा। श्रीयुत हीराचन्द भाईका कर्मशास्त्रके विषयमें खासकर श्वेताम्बरीय-कर्मशास्त्रोंके विषयमें जो स्थान है वह मेरी जानकारीमें और किसी श्वेताम्बर विद्वान्का नहीं है। उन्होंने बड़ी लगन और दिलचस्पीसे इस अनुवादको बारीकीके साथ देखा और मातृभाषा हिन्दी न होते हुए भी उन्होंने कुछ सूचनाएं सुधारणाकी दृष्टिसे कीं। पं० कैलाशचन्दजीने उन सूचनाओंमेंसे जो ठीक थीं उसके अनुसार यथास्थान सुधार किया। इसतरह अन्तमें यह ग्रन्थ तैयार होकर अभ्यासिओंके संमुख उपस्थित होता है। मैं पं० कैलाशचन्दजी तथा भाई हीराचन्द दोनोंके श्रमका मूल्य समझता हूं और एतदर्थ अपनी ओरसे तथा मंडलकी ओरसे उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

प्रकाशक मंडलने कर्मग्रन्थोंके हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध करके हिन्दी साहित्यमें एक नया ही प्रस्थान शुरू किया है। यों तो परमश्रुतप्रभावक मंडलकी ओरसे दिगम्बरीय जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड ग्रन्थोंके दिगम्बरीय

विद्वानोंके द्वारा किए गये अनुवाद बहुत पहलेसे ही प्रसिद्ध थे । और उन अनुवादोंका पुनः संस्करण भी एक प्रसिद्ध दिगम्बर पंडितके द्वारा ही हुआ है जो दिगम्बरीय कर्मशास्त्रके विशेषज्ञ समझे जाते हैं और जिनकी मातृभाषा भी हिन्दी है । फिर भी आ० मण्डल द्वारा प्रकाशित और प्रकाश्यमान प्रस्तुत अनुवादके साथ जब उन जीवकाण्ड कर्मकाण्डके अनुवादोंकी तुलना करता हूँ तब कहना पड़ता है कि मण्डलका प्रयत्न कहीं ज्यादा सफल और व्यापक है । मंडलके द्वारा प्रकाशित हिन्दी कर्मग्रन्थोंके बाद तो गुजराती भाषामें भी कर्मग्रंथोंके अच्छे अनुवाद प्रसिद्ध हुए हैं, जो पं० भगवानदासके किए हुए हैं । और जिनमें मण्डलके द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवादमेंसे अनुकसामग्री भी अक्षरशः ली गई है । मंडल के हिन्दी अनुवाद हिन्दीभाषी प्रान्तोंके अलावा गुजरातमें इतने अधिक प्रचलित हुए हैं कि मंडलकी पुस्तकोंकी बिक्रीका बड़ा भाग गुजरातमें ही हुआ है । प्रस्तुत अनुवाद भी गुजरातमें बहुत प्रचलित होगा और संभव है कि इसके आश्रयसे गुजरातीमें भी अनुवाद तैयार हो ।

अन्तमें मैं दो एक बातोंकी ओर पाठकोंका ध्यान खींचता हूँ । पं० कैलाशचन्द्रजीने अपनी स्पष्टभाषिताके अनुसार खुद ही कहा है कि अभ्यास-के कारण दिगम्बरीय परिभाषाओं और संकेतोंसे जितना मैं परिचित हूँ उतना श्वेताम्बरीय परिभाषाओंसे नहीं । यह उनका कहना वास्तविक है । और इसमें कोई दोष नहीं प्रत्युत गुण है । फिर भी उन्होंने श्वेताम्बरीय परिभाषाओं को समझने और अपनानेका भरसक प्रयत्न किया है । प्रस्तावनामें उन्होंने दर्शनान्तरीय ग्रन्थोंका परिशीलन करके मतलबकी ठीक २ बातें लिखी हैं, जहाँ कहीं जैन ग्रन्थोंके हवालेका सवाल आया वहाँ उन्होंने विशेषरूपसे दिगम्बरीय ग्रन्थोंके वाक्य उद्धृत किए हैं । यह स्वाभाविक है । क्योंकि उन्हें श्वेताम्बरीय ग्रन्थ उतने उपस्थित और स्मरण नहीं हो सकते जितने दिगम्बरीय ग्रन्थ । पर इससे श्वेताम्बरीय या दिगम्बरीय अभ्यासियोंको तो

१ कर्मसिद्धान्त

न्थ, जैसा कि इसके नामसे स्पष्ट है, कर्मसिद्धान्तसे सम्बन्ध
अतः कर्मसिद्धान्तके कुछ मुख्य मुख्य मुद्दोंपर प्रकाश डालना
है ।

र्मसिद्धान्तका आशय—संसारमें बड़ी विषमता दिखाई
कोई अमीर है कोई गरीब, कोई सुन्दर है कोई कुरूप, कोई
कोई कमजोर, कोई बुद्धिमान है कोई मूर्ख । तथा, यदि यह
भिन्न कुलोंके मनुष्योंमें ही पाई जाती, तब भी एक बात थी ।
ही कुलकी तो कौन कहे, एकही माताकी कोखसे जन्म लेनेवाले
भी इसका साम्राज्य देखा जाता है । अधिक क्या कहें, पशुयोनि
षमतासे नहीं बच सकी है । उदाहरणके लिये कुत्तोंको ही
—एक वे कुत्ते हैं जो पेट भरनेके लिये इधर उधर भटकते फिरते
लाठ और घाव खा रहे हैं और दरदर भी मार खाते डोलते हैं ।
ते हैं जो पेटभर दूध रोटी खाते हैं, मोटरोंमें बैठकर घूमते हैं
इन्सानोंकी तरह जिनका लालन-पालन होता है । [illegible] हर है
जिधर दृष्टि डालिये उधर ही विषमता दिखाई देती है । इसका
है ? क्यों एकही माता-पिताके जन्म लेनेपर भी एक बुद्धिमान
दूसरा मूर्ख, एक स्वस्थ होता है दूसरा रोगी, एक सुन्दर होता है

२ कर्मका स्वरूप—उपर्युक्त कर्मसिद्धान्तके बारेमें ईश्वरवादियों और अनीश्वरवादियोंमें ऐकमत्य होते हुए भी कर्मके स्वरूप और उसके फलदानके सम्बन्धमें मौलिक मतभेद है। साधारण तौरसे जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। जैसे—खाना, पीना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, सोचना, विचारना वगैरह। परलोकवादी दार्शनिकोंका मत है कि हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कार्य अपना संस्कार छोड़ जाता है। उस संस्कारको नैयायिक[1] और वैशेषिक[2] धर्म या अधर्मके नामसे पुकारते हैं। योग[3] उसे कर्माशय कहते हैं, बौद्ध[4] उसे अनुशय आदि नामोंसे पुकारते हैं।

आशय यह है कि जन्म-जरा-मरणरूप संसारके चक्रमें पड़े हुए प्राणी अज्ञान, अविद्या या मिथ्यात्वसे संलिप्त हैं। इस अज्ञान, अविद्या या मिथ्यात्वके कारण वे संसारके वास्तविक स्वरूपको समझनेमें असमर्थ हैं, अतः उनका जो कुछ भी कार्य होता है वह अज्ञानमूलक होता है, उसमें राग-द्वेषका अभिनिवेश लगा होता है। इसलिये उनका प्रत्येक कार्य आत्माके बन्धनका ही कारण होता है। जैसा कि विभिन्न दार्शनिकोंके निम्न मन्तव्योंसे स्पष्ट है—

बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्द प्रश्नमें लिखा है—

"(मरनेके बाद) कौन जन्म ग्रहण करते हैं और कौन नहीं? जिनमें क्लेश (चित्तका मैल) लगा है वे जन्म ग्रहण

प्राप्ति नहीं होती। ये सब बातें किसी दृष्टकारणकी वजहसे नहीं होतीं, अतः इनका कोई अदृष्ट कारण मानना चाहिये।

१ "स कर्मजन्यसंस्कारो धर्माधर्मगिरोच्यते।"

न्या० मञ्ज० (उत्तरभाग) पृ० ४४।

२ प्रशस्त० कन्दली०, पृ० २७२ वगैरह।

३ "क्लेशमूलः कर्माशयः···॥ २-१२॥" योगद०

४ "मूलं भवस्यानुशयः।" अभिधर्म०, ५-१।

करते हैं और जो क्लेश से रहित हो गये हैं वे जन्म नहीं ग्रहण करते।

भन्ते ! आप जन्म ग्रहण करेंगे या नहीं ?

महाराज यदि संसारकी ओर आसक्ति लगी रहेगी तो जन्म ग्रहण करूँगा और यदि आसक्ति छूट जायगी तो नहीं करूँगा।" पृ० ३९

और भी—"अविद्याके होनेसे संस्कार, संस्कारके होनेसे विज्ञान, विज्ञानके होनेसे नाम और रूप, नाम और रूपके होनेसे छः आयतन, छः आयतनोंके होनेसे स्पर्श, स्पर्शके होनेसे वेदना, वेदनाके होनेसे तृष्णा, तृष्णाके होनेसे उपादान, उपादानके होनेसे भव, भवके होनेसे जन्म और जन्मके होनेसे बुढापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दुःख बेचैनी और परेशानी होती है। इस प्रकार इस दुःखोंके सिलसिलेका आरम्भ कहांसे हुआ इसका पता नहीं।" पृ० ६२।

योगदर्शनमें लिखा है—

"वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः" ॥ १-५ ॥

"क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः।" व्या०भा०।

"प्रतिपत्ताऽध्यवसाय तत्र सक्तो क्लिष्टो वा कर्माशयमाचिनोतीति भवन्ति धर्माधर्मप्रसवभूमयो वृत्तयः क्लिष्टा इति। तत्त्ववै०।

"तथा जातीयकाः=क्लिष्टजातीया अक्लिष्टजातीया वा संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते। वृत्तिभिः संस्काराः संस्कारेभ्यश्च वृत्तय इत्येवं वृत्तिसंस्कारचक्रं निरन्तरमावर्तते।" भास्वती।

अर्थात्—पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं, वे क्लिष्ट भी होती हैं और

अक्लिष्ट भी होती हैं। जिन वृत्तियोंका कारण क्लेश होता है और जो कर्मा-शयके सञ्चयके लिये आधारभूत होती हैं उन्हें क्लिष्ट कहते हैं। अर्थात् ज्ञाता अर्थको जानकर उससे राग या द्वेष करता है और ऐसा करनेसे कर्मा-शयका सञ्चय करता है। इस प्रकार धर्म और अधर्मको उत्पन्न करनेवाली वृत्तियाँ क्लिष्ट कही जाती हैं। क्लिष्टजातीय अथवा अक्लिष्टजातीय संस्कार वृत्तियोंके ही द्वारा होते हैं और वृत्तियाँ संस्कार से होती हैं। इस प्रकार वृत्ति और संस्कारका चक्र सर्वदा चलता रहता है।

सांख्यकारिकामें लिखा है—

"सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः ॥६७॥"
"संस्कारो नाम धर्माधर्मौ निमित्तं कृत्वा शरीरोत्पत्तिर्भवति
……संस्कारवशात्-कर्मवशादित्यर्थः।" माठ० वृ०।

अर्थात् धर्म और अधर्मको संस्कार कहते हैं। उसीके निमित्तसे शरीर बनता है। सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर धर्मादिक पुनर्जन्म करनेमें समर्थ नहीं रहते। फिर भी संस्कारकी वजहसे पुरुष संसारमें ठहरा रहता है। जैसे कुलालके दण्डका सम्बन्ध दूर हो जाने पर भी संस्कारके वशसे चाक घूमता रहता है। क्योंकि विना फल दिये संस्कारका क्षय नहीं होता।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय वगैरहको धर्मके और हिंसा, असत्य, स्तेय वगैरहको अधर्मके साधन बतलाकर प्रशस्तपादमें लिखा है—

"अविदुषो रागद्वेषवतः प्रवर्तकाद् धर्मात् प्रकृष्टात् स्वल्पाधर्मसहितात् ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिपितृमनुष्यलोकेषु आशयानुरूपैरिष्टशरीरेन्द्रियविषयसुखादिभिर्योगो भवति। तथा प्रकृष्टादधर्मात् स्वल्पधर्मसहितात् प्रेततिर्यग्योनिस्थानेषु अनिष्टशरीरेन्द्रियविषयदुःखादिभिर्योगो भवति। एवं प्रवृत्तिलक्षणात्

धर्माद् अधर्मसहिताद् देवमनुष्यतिर्यङ्नारकेषु पुनः पुनः संसारबन्धो भवति।" पृ० २८०-२८१।

अर्थात्—राग और द्वेषसे युक्त अज्ञानी जीव कुछ अधर्मसहित किन्तु प्रकृष्ट धर्ममूलक कामोंके करनेसे ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, पितृलोक और मनुष्यलोकमें अपने आशय=कर्माशयके अनुरूप इष्ट शरीर, इन्द्रियविषय और सुखादिकको प्राप्त करता है। तथा कुछ धर्मसहित किन्तु प्रकृष्ट अधर्ममूलक कामोंके करनेसे प्रेतयोनि तिर्यग्योनि वगैरह स्थानोंमें अनिष्ट शरीर, इन्द्रियविषय और दुःखादिकको प्राप्त करता है। इस प्रकार अधर्मसहित प्रवृत्तिमूलक धर्मसे देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकोंमें (जन्म लेकर) बारम्बार संसारबन्धको करता है।

न्यायमञ्जरीकारने भी इसी मतको व्यक्त करते हुए लिखा है—

"यो ह्ययं देवमनुष्यतिर्यग्भूमिषु शरीरसर्गः, यश्च प्रतिविषयं बुद्धिसर्गः, यश्चात्मना सह मनसः संसर्गः, स सर्वः प्रवृत्तेरेव परिणामविभवः। प्रवृत्तेश्च सर्वस्याः क्रियात्वात् क्षणिकत्वेऽपि तदुपहितो धर्माधर्मशब्दवाच्य आत्मसंस्कारः फलोपभोगपर्यन्तस्थितिरस्त्येव × × न च जगति तथाविधं किमपि कार्यमस्ति वस्तु यत् धर्माधर्माभ्यामाक्षिप्तसम्भवम्।" पृ० ७०।

अर्थात्—देव, मनुष्य और तिर्यग्योनिमें जो शरीरकी उत्पत्ति देखी जाती है, प्रत्येक वस्तुको जाननेके लिये जो ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, और आत्माका मनके साथ जो सम्बन्ध होता है, यह सब प्रवृत्तिका ही परिणाम है। सभी प्रवृत्तियाँ क्रियारूप होनेके कारण यद्यपि क्षणिक हैं, किन्तु उनसे उत्पन्न आत्मसंस्कार, जिसे धर्म या अधर्म शब्दसे कहा जाता है, कर्मफलके भोगने पर्यन्त स्थित रहता है। ××× संसारमें ऐसा कोई कार्य नहीं है जो धर्म या अधर्मसे व्याप्त न हो।

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकोंके उक्त मन्तव्योंसे यह स्पष्ट है कि कर्म नाम क्रिया या प्रवृत्तिका है और उस प्रवृत्तिके मूलमें राग और द्वेष रहते हैं। तथा यद्यपि प्रवृत्ति, क्रिया या कर्म क्षणिक होता है तथापि उसका संस्कार फलकाल तक स्थायी रहता है। संस्कारसे प्रवृत्ति और प्रवृत्तिसे संस्कारकी परम्परा अनादिकालसे चली आती है। इसीका नाम संसार है। किन्तु जैनदर्शनके मतानुसार कर्मका स्वरूप किसी अंशमें उक्त मतोंसे विभिन्न है।

३ जैनदर्शनानुसार कर्मका स्वरूप—जैनदर्शनके अनुसार कर्मके दो प्रकार होते हैं—एक द्रव्यकर्म और दूसरा भावकर्म। यद्यपि अन्य दर्शनोंमें भी इस प्रकारका विभाग पाया जाता है और भावकर्मकी तुलना अन्यदर्शनोंके संस्कारके साथ तथा द्रव्यकर्मकी तुलना योगदर्शनकी वृत्ति और न्यायदर्शनकी प्रवृत्तिके साथकी जा सकती है। तथापि जैनदर्शनके कर्म और अन्यदर्शनोंके कर्ममें बहुत अन्तर है। जैनदर्शनमें कर्म केवल एक संस्कार मात्र ही नहीं है किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है जो रागी द्वेषी जीवकी क्रियासे आकृष्ट होकर जीवके साथ उसी तरह घुल मिल जाता है, जैसे दूधमें पानी। वह पदार्थ है तो भौतिक, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिये रूढ़ हो गया है क्योंकि जीवके कर्म अर्थात् क्रियाकी वजहसे आकृष्ट होकर वह जीवसे बंध जाता है। आशय यह है कि जहाँ अन्य दर्शन राग और द्वेषसे आविष्ट जीवकी प्रत्येक क्रियाको कर्म कहते हैं, और उस कर्मके क्षणिक होनेपर भी तज्जन्य संस्कारको स्थायी मानते हैं, वहाँ जैनदर्शनका मन्तव्य है कि रागद्वेषसे आविष्ट जीवकी प्रत्येक क्रियाके साथ एक प्रकारका द्रव्य आत्मामें आता है, जो उसके रागद्वेषरूप परिणामोंका निमित्त पाकर आत्मासे बंध जाता है। कालान्तरमें यही द्रव्य आत्माको

---

१ 'क्रिया नाम आत्मना प्राप्यत्वात् कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म।' प्रवचनसार, अमृत० टी०, गा० २५, पृ० १६५।

शुभ या अशुभ फल देता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

जैनदर्शन छ द्रव्य मानता है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। अपने चारों ओर जो कुछ हम चर्मचक्षुओंसे देखते हैं सब पुद्गल द्रव्य है[1]। यह पुद्गल द्रव्य २२ तरहकी वर्गणाओंमें विभक्त है[2]। उन वर्गणाओंमेंसे एक कार्मण वर्गणा भी है, जो समस्त संसारमें व्याप्त है। यह कार्मण वर्गणा ही जीवोंके कर्मोंका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती है। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्दने लिखा है—

"परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं॥९५॥" प्रवचनसार

अर्थात्—जब राग-द्वेषसे युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामोंमें लगता है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणादिरूपसे उसमें प्रवेश करता है।

इस प्रकार जैनसिद्धान्तके अनुसार कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीवके साथ बन्धको प्राप्त हो जाता है।

जीव अमूर्तिक है और कर्मद्रव्य मूर्तिक। ऐसी दशामें इन दोनोंका बन्ध ही सम्भव नहीं है। क्योंकि मूर्तिकके साथ मूर्तिकका बन्ध तो हो सकता है, किन्तु अमूर्तिकके साथ मूर्तिकका बन्ध कदापि सम्भव नहीं है। ऐसी आशङ्का की जा सकती है, जिसका समाधान निम्न प्रकार है—

---

१ "उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदिय काया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे॥ ८२॥ पञ्चास्ति०

अर्थात् इन्द्रियोंसे हम जो कुछ भोगते हैं वह सब तथा इन्द्रियाँ, शरीर, मन, द्रव्यकर्म और भी जो कुछ मूर्त पदार्थ है, वे सब पुद्गल द्रव्य जानना चाहिये।

२ इन वर्गणाओंका स्वरूप जाननेके लिये इसी पञ्चसंग्रहकी गा० ७५-८१की टीका देखनी चाहिये।

अन्य दर्शनोंकी तरह जैनदर्शन भी जीव और कर्मके सम्बन्धके प्रवाह को अनादि मानता है। किसी समय यह जीव सर्वथा शुद्ध था, बादको उसके साथ कर्मोंका बन्ध हुआ, ऐसी मान्यता नहीं है। क्योंकि इस मान्यता में अनेक विप्रतिपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। पञ्चास्तिकायमें जीव और कर्मके इस अनादि सम्बन्धको जीवपुद्गलकर्मचक्रके नामसे अभिहित करते हुए लिखा है—

"जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी॥ १२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥ १२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥१३०॥"

अर्थ—जो जीव संसारमें स्थित है अर्थात् जन्म और मरणके चक्रमें पड़ा हुआ है उसके राग और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। परिणामोंसे नये कर्म बँधते हैं। कर्मोंसे गतियोंमें जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेनेसे शरीर होता है। शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण करता है। विषयोंके ज्ञानसे राग और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार संसाररूपी चक्रमें पड़े हुए जीवके भावोंसे कर्म और कर्मसे भाव होते रहते हैं। यह प्रवाह अभव्य जीवकी अपेक्षासे अनादि अनन्त है और भव्यजीवकी अपेक्षासे अनादि सान्त है।

इससे स्पष्ट है कि जीव अनादिकालसे मूर्तिक कर्मोंसे बँधा हुआ है। जब जीव मूर्तिक कर्मोंसे बँधा है, तब उसके जो नये कर्म बँधते हैं, वे कर्म जीवमें स्थित मूर्तिक कर्मोंके साथ ही बँधते हैं; क्योंकि मूर्तिकका मूर्तिकके साथ संयोग होता है और मूर्तिकका मूर्तिकके साथ बन्ध होता है। अतः आत्मा-में स्थित पुरातन कर्मोंके साथ ही नये कर्म बन्धको प्राप्त होते रहते हैं। इस

कर्म चैतन्यरूप होता है और अचेतनका कर्म अचेतनरूप। यदि चेतनका कर्म भी अचेतनरूप होने लगे तो चेतन और अचेतनका भेद नष्ट होकर महान् संकर दोष उपस्थित होगा। अतः प्रत्येक द्रव्य स्वभावका कर्ता है, परभावका कर्ता नहीं है। या जैसे जल स्वभावतः शीतल होता है, किन्तु अग्निका सम्बन्ध होनेसे उष्ण हो जाता है। यहाँपर इस उष्णताका कर्ता जलको नहीं कहा जा सकता। उष्णता तो अग्निका धर्म है, वह जलमें अग्निके सम्बन्धसे आगई है, अतः आगन्तुक है, अग्निका सम्बन्ध अलग होते ही चली जाती है। इसी प्रकार जीवके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर जो पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणत होते हैं, उनका कर्ता स्वयं पुद्गल ही है, जीव उनका कर्ता नहीं हो सकता, जीव तो अपने भावोंका कर्ता है। जैसे सांख्यके मतमें पुरुषके संयोगसे प्रकृतिका कर्तृत्वगुण व्यक्त हो जाता है और वह सृष्टिप्रक्रियाको उत्पन्न करना शुरू कर देता है, तथापि पुरुष अकर्ता ही कहा जाता है, उसीतरह जीवके रागद्वेषादिक अशुद्ध भावोंका सहारा पाकर पुद्गलद्रव्य उसकी ओर स्वतः आकृष्ट होता है। उसमें जीवका कर्तृत्व ही क्या है? जैसे यदि कोई सुन्दर युवा पुरुष बाजारसे कार्यवश जा रहा हो, और कोई सुन्दरी उसपर मोहित होकर उसकी अनुगामिनी बन जाये तो इसमें पुरुषका क्या कर्तृत्व है? कर्त्री तो वह स्त्री है, पुरुष उसमें केवल निमित्तमात्र है। इसीतरह—

> "जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
> पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोऽवि परिणमदि॥ ८६॥
> ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
> अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि॥ ८७॥
> एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएणभावेण।
> पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥ ८८॥"

समयप्राभृत

'जीव तो अपने रागद्वेषादिरूप भावोंको करता है, किन्तु उन भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। तथा कर्मरूप परिणत हुए पुद्गलद्रव्य जब अपना फल देते हैं तो उनके निमित्तको पाकर जीव भी रागादिरूप परिणमन करता है। यद्यपि जीव और पौद्गलिककर्म दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते हैं, तथापि न तो जीव पुद्गलकर्मोंके गुणोंका कर्ता है और न पुद्गलकर्म जीवके गुणोंका कर्ता है। किन्तु परस्परमें दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते हैं। अतः आत्मा अपने भावोंका ही कर्ता है, पुद्गलकर्मकृत समस्त भावोंका कर्ता नहीं है।'

सांख्यके दृष्टान्तसे सम्भवतः पाठकोंको यह भ्रम हो सकता है कि जैनधर्म भी सांख्यकी तरह जीवको सर्वथा अकर्ता और प्रकृतिकी तरह पुद्गलको ही कर्ता मानता है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। सांख्यका पुरुष तो सर्वथा अकर्ता है, किन्तु जैनोंका आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, वह अपनी आत्माके स्वाभाविकभाव ज्ञान, दर्शन, सुख वगैरह और वैभाविकभाव राग, द्वेष, काम मोहादिकका कर्ता है, किन्तु उनके निमित्तसे जो पुद्गलोंमें कर्मरूप परिणमन होता है, उसका वह कर्ता नहीं है। सारांश यह है कि वास्तवमें उपादान कारणको ही किसी वस्तुका कर्ता कहा जा सकता है, निमित्त कारणमें जो कर्तापनका व्यवहार किया जाता है वह व्यावहारिक=लौकिक है, वास्तविक नहीं है। वास्तविक कर्ता तो वही है जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है। इस दृष्टिसे घटका कर्ता मृत्तिका ही है, न कि कुम्भकार। कुम्भकारको जो लोकमें घटका कर्ता कहा जाता है, उसमें केवल इतना ही तात्पर्य है कि घटपर्यायमें निमित्त कुम्भकार है। वास्तवमें तो घट मृत्तिकाका ही एक भाव है, अतः उसका कर्ता भी वही है।

जो बात कर्तृत्वके बारेमें कही गई है, वही बात भोक्तृत्वके बारेमें भी जाननी चाहिये। जो जिसका कर्ता ही नहीं वह उसका भोक्ता कैसे हो

और उस प्रभावकी वजहसे उस अचेतनका परिपाक कैसे अच्छा या बुरा होता है, इत्यादि प्रश्नोंके समाधानके लिये हमें डाक्टरों और वैद्योंके भोजन सम्बन्धी नियमोंपर एक दृष्टि डालनी चाहिये। वैद्यकशास्त्रके अनुसार भोजन करते समय मनमें किसी तरहका क्षोभ नहीं होना चाहिये भोजन करनेसे आधा घंटा पहलेसे लेकर भोजन करनेके आधा घंटा बाद तक मनमें कोई अशान्ति कारक विचार न आना चाहिये। ऐसी दशामें जो भोजन किया जाता है उसका परिपाक अच्छा होता है और वह विकारकारक नहीं होता, किन्तु इसके विपरीत यदि काम क्रोधादि भावोंकी दशामें भोजन किया जाये तो उसका परिपाक ठीक नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि कर्ताके भावोंका असर अचेतन पर पड़ता है और उसीके अनुसार उसका विपाक होता है। अतः जीवको कर्म करनेमें स्वतंत्र और फल भोगनेमें परतंत्र माननेकी आवश्यकता नहीं है।

यदि ईश्वरको फलदाता माना जाता है तो जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्यका घात करता है वहाँ घातकको दोषका भागी नहीं होना चाहिये, क्योंकि उस मनुष्य के द्वारा ईश्वर मरने वालेको मृत्युका दण्ड दिलाता है। जैसे राजा जिन पुरुषोंके द्वारा अपराधियोंको दण्ड दिलाता है वे पुरुष अपराधी नहीं कहे जाते, क्योंकि वे राजाज्ञाका पालन करते हैं। उसी तरह किसीका घात करने वाला घातक भी जिसका घात करता है उसके पूर्वकृत कर्मोंका फल भुगताता है, क्योंकि ईश्वर ने उसके पूर्वकृत कर्मोंकी यही सजा नियतकी होगी, तभी तो उसका वध किया गया। यदि कहा जाये कि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है अतः घातकका कार्य ईश्वरप्रेरित नहीं है किन्तु उसकी स्वतंत्र इच्छाका परिणाम है। तो कहना होगा कि संसार दशामें कोई भी प्राणी वस्तुतः स्वतंत्र नहीं है, सभी अपने अपने कर्मोंसे बंधे हुए हैं। जैसा कि महाभारतमें भी लिखा है—'कर्मणा बध्यते जन्तुः' अर्थात् प्राणी कर्मसे बंधता है। और कर्मका परम्परा अनादि है ऐसी परिस्थितिमें

'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' अर्थात् 'कर्मके अनुसार प्राणीकी बुद्धि होती है' न्यायके अनुसार किसी भी कामको करने या न करनेके लिये मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। शायद कहा जाये कि ऐसी दशामें तो कोई भी व्यक्ति मुक्तिलाभ नहीं कर सकेगा, क्योंकि जीव कर्मसे बंधा है और कर्मके अनुसार जीवकी बुद्धि होती है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं। अतः अच्छे कर्मका अनुसरण करनेवाली बुद्धि मनुष्यको सन्मार्गकी ओर ले जाती है और बुरे कर्मका अनुसरण करनेवाली बुद्धि मनुष्यको कुमार्गकी ओर ले जाती है। सन्मार्गपर चलनेसे मुक्तिलाभ और कुमार्गपर चलनेसे बन्धलाभ होता है। अतः बुद्धिके कर्मानुसारिणी होनेसे मुक्तिलाभमें कोई बाधा नहीं आती। अस्तु,

जब उक्त प्रकारसे कर्म करनेमें जीव स्वतन्त्र नहीं हैं तो घातकका घातनरूप कर्म उसकी किसी दुर्बुद्धिका ही परिणाम होना चाहिये। और बुद्धिकी दुष्टता उसके किसी पूर्वकृत् कर्मका फल होना चाहिये। किन्तु जब हम कर्मका फल ईश्वराधीन मानते हैं तो उसका उत्पादक ईश्वरको ही कहा जायेगा। यदि हम ईश्वरको फलदाता न मानकर जीवके कर्मोंमें ही स्वतः फलदानकी शक्ति मान लें, जैसाकि हम पहले बतला आये हैं तो उक्त समस्याएं आसानीसे हल हो जाती हैं क्योंकि मनुष्यके बुरे कर्म उसकी बुद्धिपर इस प्रकारके संस्कार डाल देते हैं जिससे वह क्रोधमें आकर हत्या तक कर बैठता है। किन्तु जब हम ईश्वरको फलदाता मानते हैं तो हमारी विचारशक्ति कहती है कि किसी विचारशील फलदाताको किसी व्यक्तिके खोटे कर्मका फल ऐसा देना चाहिये जो उसकी सजाके रूपमें हो, न कि दूसरोंको उसके द्वारा सजा दिलवानेके रूपमें हो। उक्त घटनामें ईश्वर घातकसे दूसरेका घात कराता है, क्योंकि उसे उसके जरिये दूसरेको सजा दिलवानी है। किन्तु घातकको जिस दुर्बुद्धिके कारण वह परका घात करता है उस

बुद्धिको दुष्ट करनेवाले कर्मोंका क्या फल मिला ? इस फलके द्वारा तो दूसरेको सजा भोगनी पड़ी । अतः ईश्वरको कर्मफलदाता माननेमें इसी तरह अन्य भी कई एक अनुपपत्तियाँ खड़ी होती हैं। जिनमेंसे एक इस प्रकार है—किसी कर्मका फल हमें तुरन्त मिल जाता है, किसीका कुछ माह बाद मिलता है, किसीका कुछ वर्ष बाद मिलता है और किसीका जन्मान्तरमें मिलता है। इसका क्या कारण है ? कर्मफलके उपभोगमें यह समयकी विषमता क्यों देखी जाती है ? ईश्वरेच्छाके सिवाय इसका कोई सन्तोषकारक समाधान ईश्वरवादियोंकी ओरसे नहीं मिलता । किन्तु कर्ममें ही फलदानकी शक्ति माननेवाला कर्मवादी जैनसिद्धान्त उक्त प्रश्नोंका बुद्धिगम्य उत्तर देता है जैसाकि हम आगे बतलायेंगे। अतः ईश्वरको फलदाता मानना उचित प्रतीत नहीं होता ।

६ कर्मके भेद कर्मके भेद शास्त्रकारोंने दो दृष्टियोंसे किये हैं—एक विपाककी दृष्टिसे और दूसरे विपाककालकी दृष्टिसे । कर्मका फल किस किस रूप होता है और कब होता है प्रायः इन्हीं दोनों बातोंको लेकर भेद किये गये हैं । कर्मके भेदोंका साधारणतया उल्लेख तो प्रायः सभी दर्शनकारोंने किया है किन्तु जैनेतर दर्शनोंमेंसे योगदर्शन और बौद्ध-दर्शनमें ही कर्माशय और उसके विपाकका कुछ विस्तृत वर्णन मिलता है और विपाक तथा विपाककालकी दृष्टिसे कुछ भेद भी गिनाये हैं । परन्तु जैनदर्शनमें उसके भेद-प्रभेदों और विविध दशाओंका बहुत ही विस्तृत और साङ्गोपाङ्ग वर्णन पाया जाता है । तथा, जैनदर्शनमें कर्मोंके भेद तो विपाककी दृष्टिसे ही गिनाये हैं किन्तु विपाकके होने, न होने, अमुक समयमें होने वगैरहकी दृष्टिसे जो भेद हो सकते हैं उन्हें कर्मोंकी विविध दशाके नामसे चित्रित किया है । अर्थात् कर्मके अमुक अमुक भेद हैं और उनकी अमुक अमुक अवस्थाएँ होती हैं । अन्य दर्शनोंमें इस तरहका श्रेणिविभाग नहीं पाया जाता, जैसा कि नीचेके वर्णनसे स्पष्ट है ।

कर्मके दो भेद तो सभी जानते और मानते हैं—एक अच्छा कर्म और दूसरा बुरा कर्म। इन्हें ही विभिन्न शास्त्रकारोंने शुभ अशुभ, पुण्य पाप, कुशल अकुशल, शुक्ल कृष्ण आदि नामोंसे कहा है। इसके सिवाय भी विभिन्न दर्शनकारोंने विभिन्न दृष्टियोंसे कर्मके विभिन्न भेद किये हैं। गीतामें सात्त्विक, राजस और तामस भेद पाये जाते हैं। जो उक्त भेदोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। साधारणतया फलदानकी दृष्टिसे कर्मके सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन भेद किये जाते हैं, किसी मनुष्यके द्वारा इस क्षण तक किया गया जो कर्म है, चाहे वह इस जन्ममें किया गया हो या पूर्व जन्ममें, वह सब संचित कहा जाता है। इसी संचितका दूसरा नाम अदृष्ट और मीमांसकोंकी परिभाषामें अपूर्व भी है। इन नामोंके पड़ने का कारण यह है कि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है उसी समय के लिए वह दृश्य रहती है। उस समय के बीत जाने पर वह क्रिया स्वरूपतः शेष नहीं रहती, किन्तु उसके सूक्ष्म अत एव अदृश्य अर्थात् अपूर्व और विलक्षण परिणाम ही बाकी रह जाते हैं। इन सब संचित कर्मोंको एक दम भोगना असम्भव है, क्योंकि इनके परिणामोंमेंसे कुछ परस्पर विरोधी अर्थात् भले और बुरे दोनों प्रकारके फल देने वाले हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, कोई संचित कर्म स्वर्गप्रद और कोई नरकप्रद भी होते हैं। इस लिये इन दोनों कर्मोंको एकदम भोगना असम्भव है। अत एव संचितमें से जितने कर्मोंके फलोंको भोगना पहले शुरू होता है उतने ही को प्रारब्ध कहते हैं। लोकमान्य तिलकने अपने गीता रहस्यमें क्रियमाण भेद को ठीक नहीं माना है। वे लिखते हैं—"क्रियमाण......का अर्थ है—जो कर्म अभी हो रहा है अथवा जो कर्म अभी किया जा रहा है। परन्तु वर्तमान समयमें हम जो कुछ करते हैं वह प्रारब्ध कर्म का ही परिणाम है। अत

---

१ अध्याय १८। २ पृ० २७२।

दर्शनोंमें वर्णित पूर्वोक्त भेदोंमें नहीं पाया जाता। योगदर्शनमें कर्मका विपाक तीन रूपसे बतलाया है—जन्मके रूपमें, आयुके रूपमें और योगके रूपमें। किन्तु अमुक कर्माशय आयुके रूपमें अपना फल देता है, अमुक कर्माशय जन्मके रूपमें अपना फल देता है और अमुक कर्माशय भोगके रूपमें अपना फल देता है, यह बात वहाँ नहीं बतलाई है। यदि यह भी वहाँ बतलाया गया होता तो योगदर्शनके आयुविपाकवाले कर्माशयकी जैनदर्शनके आयुकर्मसे और जन्मविपाकवाले कर्माशयकी नामकर्मसे तुलना की जा सकती थी। किन्तु वहाँ तो सभी कर्माशय मिलकर तीन रूप फल देते हैं। जो कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय होता है वह केवल दो ही रूप फल देता है, जन्मान्तरमें न जानेसे उसका विपाक जन्मरूपसे नहीं होता। हम पहले ही लिख आये हैं कि इस ढंगका श्रेणिविभाग इतर दर्शनोंमें नहीं पाया जाता। इतर दर्शनोंमें वर्णित कर्मके जो भेद पहले गिनाये हैं, जैनदृष्टिसे वे कर्मोंकी विविध दशाएँ हैं, जैसा कि आगेके वर्णनसे स्पष्ट है।

कर्मोंकी विविध दशाएँ—जैन सिद्धान्तमें कर्मोंकी दस मुख्य अवस्थाएँ अथवा कर्मोंमें होनेवाली दस मुख्य क्रियाएँ बतलाई हैं, जिन्हें करण कहते हैं। उनके नाम—बन्ध, उद्वर्तन, अपवर्तन, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना हैं। कर्मपरमाणुओंका आत्माके साथ सम्बन्ध होनेको बन्ध कहते हैं। यह सबसे पहली अवस्था है। इसके बिना अन्य कोई अवस्था हो ही नहीं सकती। इसके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। अर्थात् जब कर्मपरमाणु आत्माके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं तो उनमें आत्माके योग और कषाय रूप भावोंसे चार बातें होती हैं। प्रथम तुरन्त ही उनमें ज्ञानादिकको घातने वगैरहका स्वभाव पड़ जाता है, दूसरे उनकी स्थिति भी बँध जाती है कि ये अमुक समयतक आत्माके साथ बंधे रहेंगे। तीसरे उनमें तीव्र या मन्द फल

१ "सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ २-१३ ॥" योगद०

[illegible] शक्ति घट जाती है। क्योंकि वे निमित्त [illegible] आत्माके स्फुरित हो जाते हैं। जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है। दूसरी अवस्थाका नाम उद्वर्तना है कि स्थिति और अनुभागके बढ़नेको उद्वर्तना कहते हैं। तीसरी अवस्था अपवर्तना इससे ठीक उल्टी है अर्थात् स्थिति और अनुभाग का घटना अपवर्तना कहा जाता है। इसके बाद ये दोनों क्रियाएँ होती हैं। किसी अशुभ कर्मका बन्ध करनेके बाद यदि जीव अच्छे काम करता है तो उसके पहले बँधे हुए बुरे कर्मकी स्थिति और फलदानशक्ति घट सकती है। जैसे, राजा श्रेणिकने मुनिके गलेमें मरा हुआ साँप डाला तो उस समय इस बुरे कामके निमित्तसे उसने सातवें नरककी आयुका बन्ध किया था। किन्तु बादको जब उसे अपने उस कामपर पश्चात्ताप हुआ और उसने भगवान महावीरके समवसरणमें क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त किया तो शुभ परिणामोंके प्रभावसे उसकी बाँधी हुई आयु घटकर पहले नरककी ही रह गई थी। यह सब अपवर्तनाकरणका ही कार्य है। इसीतरह अशुभकर्मकी जघन्य स्थिति बाँधकर यदि कोई और भी बुरे काम करने लगे तथा उसके परिणाम पहलेसे भी अधिक कलुषित हो जावें तो बँधे हुए कर्मकी स्थिति और फल-दानशक्ति बुरे भावोंका असर पाकर बढ़ सकती है। इस उद्वर्तना और अपवर्तनाके कारण कोई कर्म जल्द फल देता है और कोई देरमें। किसीका तीव्र फल होता है और किसीका मन्द।

बंधनेके बाद कर्म तुरन्त ही अपना फल नहीं देता, कुछ समय बाद उसका फल मिलता है, इसका कारण यह है कि बंधनेके बाद कर्म अस्तित्व रूपमें रहता है। जैसे शराब पीते ही अपना असर नहीं करती किन्तु कुछ देर बाद अपना असर करती है। उसीतरह कर्म भी बंधनेके बाद कुछ समयतक सत्तारूपमें रहता है। इस कालको जैन परिभाषामें अबाधाकाल कहते हैं और यह कर्मकी स्थितिपर निर्भर है। एक कोटी-कोटी सागरकी स्थितिमें एक सौ वर्ष प्रमाण अबाधाकाल होता है। अर्थात् यदि किसी कर्मकी

स्थिति एक कोटी-कोटी सागर बाँधी हो तो वह कर्म सौ वर्षके बाद अपना फल देना प्रारम्भ करता है। और तबतक फल देता रहता है, जबतक उसकी स्थिति पूरी न हो। आयुकर्मकी अबाधाके नियममें कुछ अपवाद हैं, जिनका विवेचन इसी ग्रन्थके अनुवादमें किया है। इसप्रकार बँधनेके बाद कर्मके फल न देकर मौजूद रहने मात्रको सत्ता कहते हैं। और कर्मके फल देनेको उदय कहते हैं। यह उदय दो तरहका होता है—एक फलोदय दूसरा प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है तो वह फलोदय या विपाकोदय कहा जाता है, किन्तु जब कर्म उदयमें आकर भी बिना फल दिये ही नष्ट हो जाता है तो उसे प्रदेशोदय कहते हैं। फलोदय की उपमा सधवा युवतीसे और प्रदेशोदयकी उपमा विधवा युवतीसे दी जा सकती है।

बौद्ध-दर्शनमें कर्मके भेद बतलाते हुए कुछ ऐसे कर्म बतलाये हैं, जिनका विपाककाल नियत है और कुछ ऐसे कर्म बतलाये हैं, जिनका वैपाककाल नियत नहीं है। जैन-दर्शनमें भी नियतकालमें कर्मके फल देने को उदय कहा जाता है और नियतकालसे पहले अर्थात् अनियतकालमें कर्मके फल देनेको उदीरणा कहते हैं। जैसे, आमके मौसिममें आम बेचनेवाले आमोंको जल्दी पकानेके लिए पेड़से तोड़कर भूसे वगैरहमें दबा देते हैं, जिससे वे आम वृक्षकी अपेक्षा जल्दी पक जाते हैं। इसीतरह कर्मका भी कभी कभी नियत समयसे पहले विपाक हो जाता है। यही विपाक उदीरणा कहा जाता है। इस उदीरणाके लिए पहले अपवर्तनाकरणके द्वारा कर्मकी स्थितिको कम कर दिया जाता है। स्थिति घट जानेपर कर्म नियत समयसे पहले उदयमें आ जाता है। जब कोई आदमी पूरी आयु भोगे बिना असमयमें ही मर जाता है तो उसकी लोकमें अकालमृत्यु कही जाती है। इसका कारण आयुकर्मका उदीरणाका हो जाना ही है। अपवर्तना हुए बिना उदीरणा नहीं हो सकती।

कर्मग्रन्थोंकी रचना प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर हुई है अतः उनके नामोंका भी अपने पूर्वजोंका अनुगामी होना स्वाभाविक है । किन्तु जहाँतक हमें मालूम हो सका है उन कर्मग्रन्थोंमें उनका नाम नहीं दिया हुआ है। अतः यह विचार करनेकी आवश्यकता है कि ये नामकरण संस्कार स्वयं ग्रन्थकारके दिमागकी उपज है या उन्होंने उसमें भी अपने पूर्वव-र्तियोंका अनुसरण किया है ?

देवेन्द्रसूरिने अपने कर्मग्रन्थोंकी स्वोपज्ञटीकाओंमें प्राचीन कर्मग्रन्थोंका **बृहत्कर्मविपाक, बृहत्कर्मस्तवसूत्र** और **शतक**के नामसे उल्लेख किया है। तथा तीसरे कर्मग्रन्थकी अवचूरिमें **बृहद्बन्धस्वामित्व** और प्राचीन **षडशीतिक**का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि देवेन्द्रसूरिसे पहले प्राचीन कर्मग्रन्थ उक्त नामोंसे प्रसिद्ध थे तथा उनकी टीकाओंमें उनका यही नाम मौजूद था । इसीसे देवेन्द्रसूरिने भ्रमनिवारणके लिये उनके नामोंके साथ 'बृहद्' विशेषण लगाकर अपने ग्रन्थोंसे उनका पृथक्त्व तथा प्राचीनता सिद्ध की है। उक्त बातकी पुष्टिमें एक और भी उपपत्ति है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कर्मग्रन्थका नाम **कर्मविपाक** वगैरह रखकर भी देवेन्द्र सूरिने प्राचीन कर्मग्रन्थों की अपेक्षासे उनके गाथाओंका प्रमाण बहुत कम रखा है । मुनिवर चतुरविजयजीके लेखानुसार प्रथम तीन प्राचीन कर्म ग्रन्थोंमें गाथाओंकी संख्या क्रमशः १६८,५७ और ५४ है जब कि प्रथम तीन नवीन कर्मग्रन्थोंकी गाथाओंकी संख्या क्रमशः ६०, ३४ और २४ है। किन्तु प्राचीन चौथे और पाँचवे कर्मग्रन्थके क्रमशः ८६ और १०२ गाथाएँ हैं, तथा नवीनमें भी क्रमशः ८६ और १०० गाथाएँ हैं। इससे

१ 'इतो च बृहत्कर्मविपाके' पृ० २६। 'उक्तं बृहत्कर्मस्तवसूत्रे' पृ० ७०। श्री शिवशर्मसूरिपादैः शतके' पृ० ९९। —कर्म० द्वि० टीका०।
२ 'यदुक्तं बृहद्बन्धस्वामित्ववृत्तौ' । 'षडशीतिके तु ...' । —ती० क० अव०। ३ देखो, द्वि० क० हिन्दी की प्रस्तावना।

इसी नामसे कहा है। दूसरे कर्मग्रन्थका नाम **कर्मस्तव** है। यह नाम मूल ग्रन्थमें तो नहीं आया किन्तु उसकी स्वोपज्ञ टीकाके आदिमें[2] तथा प्रशस्तिमें ग्रन्थकारने उसे इसी नामसे अभिहित किया है। तीसरे कर्मग्रन्थका नाम **बन्धस्वामित्व** है। इस पर स्वोपज्ञ टीका नहीं है किन्तु अन्य आचार्यकी 'अवचूरि' है। ग्रन्थकी प्रथम तथा अन्तिम गाथामें 'बन्धसामित्त' पद आता है। सम्भवतः इसीसे अवचूरिकारने[3] इसे **बन्धस्वामित्व** नाम दिया है। अतः यह नाम भी ग्रन्थकारका दिया हुआ ही समझना चाहिये। चौथे कर्मग्रन्थका नाम **पडशीतिक** है। यह नाम मूल ग्रन्थमें तो नहीं आता, किन्तु उसकी स्वोपज्ञ टीकाके आदि तथा अन्तमें और प्रशस्तिमें[6] उसका यही नाम दिया है। पञ्चम कर्मग्रन्थका नाम **शतक** है। ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें यह नाम आता है। अतः पाँचों नवीन कर्मग्रन्थोंके जो नाम प्रचलित हैं वे स्वयं ग्रन्थकारके दिये हुए हैं इसमें किसी प्रकारके सन्देहके लिये स्थान नहीं है। उनमें प्रथम तीन नाम तो ग्रन्थमें वर्णित विषयके आधारपर रखे गये हैं, क्योंकि प्रथम कर्मग्रन्थमें कर्मप्रकृतियोंके विपाकका वर्णन है, दूसरे कर्मग्रन्थमें गुणस्थानोंमें कर्मोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्त्वका स्तवन—वर्णन किया गया है, और तीसरेमें गति आदि मार्गणाओंमें कर्मबन्धके स्वामित्वका विचार किया गया है। तथा अन्तके दो नाम ग्रन्थके परिमाणके आधारपर रखे गये हैं, क्योंकि चौथे कर्मग्रन्थमें ८६ गाथाएँ हैं अतः उसका नाम **पडशीतिक** है और पञ्चम कर्मग्रन्थमें १०० गाथाएँ हैं अतः उसका नाम **शतक** है।

२ ये नाम पूर्वजोंके ऋणी हैं—पहले बतलाया गया है कि नवीन

---

१ 'कर्मस्तवस्य विवृतिम्'। २ 'कर्मस्तवस्य टीकेयम्'।

३ 'बन्धस्वामित्वस्य व्याख्येयं'। ४ 'श्री पडशीतिकशास्त्रं'।

५ 'पडशीतिकशास्त्रं समर्थयन्नाह'। ६ 'पडशीतिकटीकेयम्'।

७ 'देविंदसूरिलिहियं सयगमिणं'।

कर्मग्रन्थोंकी रचना प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर हुई है अतः उनके नामोंका भी अपने पूर्वजोंका ऋणी होना स्वाभाविक है। किन्तु जहाँतक हमें मालूम हो सका है उन कर्मग्रन्थोंमें उनका नाम नहीं दिया हुआ है। अतः यह विचार करनेकी आवश्यकता है कि ये नामकरण संस्कार स्वयं ग्रन्थकारके दिमागकी उपज है या उन्होंने उसमें भी अपने पूर्ववर्तियोंका अनुसरण किया है?

देवेन्द्रसूरिने अपने कर्मग्रन्थोंकी स्वोपज्ञटीकामें प्राचीन कर्मग्रन्थोंका **बृहत्कर्मविपाक, बृहत्कर्मस्तवसूत्र** और **शतक**के नामसे उल्लेख किया है। तथा तीसरे कर्मग्रन्थ की अवचूरिमें **बृहद्बन्धस्वामित्व** और प्राचीन **षडशीतिक**का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि देवेन्द्रसूरिसे पहले प्राचीन कर्मग्रन्थ उक्त नामोंसे प्रसिद्ध थे तथा उनकी टीकाओंमें उनका यही नाम मौजूद था। इसीसे देवेन्द्रसूरिने भ्रमनिवारणके लिये उनके नामोंके साथ 'बृहत्' विशेषण लगाकर अपने ग्रन्थोंसे उनका पृथक्त्व तथा प्राचीनता सिद्ध की है। उक्त बातकी पुष्टिमें एक और भी उपपत्ति है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कर्मग्रन्थका नाम कर्मविपाक वगैरह रखकर भी देवेन्द्र सूरिने प्राचीन कर्मग्रन्थों की अपेक्षासे उनमें गाथाओंका प्रमाण बहुत कम रखा है। मुनिवर चतुरविजयजीके लेखानुसार प्रथम तीन प्राचीन कर्मग्रन्थोंमें गाथाओंकी संख्या क्रमशः १६८, ५७ और ५४ है जब कि प्रथम तीन नवीन कर्मग्रन्थोंकी गाथाओंकी संख्या क्रमशः ६०, ३४ और २४ है। किन्तु प्राचीन चौथे और पाँचवें कर्मग्रन्थमें क्रमशः ८६ और १०२ गाथाएँ हैं, तथा नवीनमें भी क्रमशः ८६ और १०० गाथाएँ हैं। इनसे

---

१ 'उक्तं च बृहत्कर्मविपाके' पृ० २६। 'यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवसूत्रे' पृ० ९२। 'यदुक्तं श्री शिवशर्मसूरिपादैः शतके' पृ० ९९। [illegible]।

२ 'उक्तं तद् बृहद्बन्धस्वामित्वानुसारेण।' 'षडशीतिके तु उक्तम्'। पृ० १११ [illegible]। [illegible]

कर्मग्रन्थोंसे पहले उसकी रचना हुई है। इस तरह प्रथम द्वितीय और तृतीय का पौर्वापर्य तो ठीक बैठ जाता है। केवल चतुर्थ और पञ्चमकी बात शेष रह जाती है।

चतुर्थ कर्मग्रन्थकी पहली ही गाथाकी टीकामें **स्वोपज्ञ कर्मस्तव** की टीकामें गुणस्थानोंका सविस्तर वर्णन करनेका उल्लेख किया है। उधर **कर्मस्तव** की दूसरी गाथाकी टीकामें **स्वोपज्ञशतक टीका** तथा **स्वोपज्ञ-षडशीतिक टीका**का उल्लेख किया है और लिखा है कि उपशम श्रेणिका विस्तृत स्वरूप **स्वोपज्ञशतकटीकामें** दिया है, समुद्घातका विस्तृत स्वरूप **स्वोपज्ञषडशीतिकटीकामें** दिया है। **शतककर्मग्रन्थके** अन्तमें उपशमश्रेणि तथा क्षपक श्रेणिका वर्णन आता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि **शतक** की टीका पहले बनाई गई है। अन्यथा **कर्मस्तव**की दूसरी ही गाथाकी टीकामें उसके अन्तमें वर्णित श्रेणियोंके स्वरूपका उल्लेख न होता। किन्तु **शतक** की २६ वीं गाथाकी उत्थानिकामें लिखा है कि 'गुणस्थानोंकी अपेक्षासे प्रकृतिबन्धके स्वामित्वका विचार **लघुकर्मस्तव**-की टीकामें किया है और मार्गणाओं की अपेक्षासे स्वोपज्ञ **बन्धस्वामित्व**-की टीकामें किया है, अतः यहाँ नहीं किया।' इस उल्लेखसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि **लघुकर्मस्तव**के नामसे ग्रन्थकारने अपने ही कर्मग्रन्थका उल्लेख किया है,किन्तु यदि ऐसा होता तो **कर्मस्तव**की टीकाके प्रारम्भमें ही **शतक टीका** के अन्तमें वर्णित विषयका उल्लेख न पाया जाता। अतः मालूम होता है कि यह **लघुकर्मस्तवग्रन्थ** कोई दूसरा है,और **स्वोपज्ञकर्मस्तव** की टीकासे पहले ग्रन्थकारने **शतक टीका**का निर्माण कर लिया था। अब रह जाता है **षडशीतिक**। उसकी रचना तो **शतक**से पहले ही हुई जान पड़ती है, क्योंकि **शतक**की टीकामें ग्रन्थकारने **षडशीतिक शास्त्र**का उल्लेख किया

१, पृ० ७३-७४।   २, पृ० ७६।   ३, पृ० ३६।

४ इस सम्बन्धमें अभी हम निःसंशय नहीं हैं। ले०। ५ पृ० १२१।

है, जब कि षडशीतिककी टीकामें शतकका उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु कर्मस्तव की टीकामें षडशीतिक टीकाका और षडशीतिक टीकाके प्रारम्भमें ही स्वोपज्ञकर्मस्तव टीकाका उल्लेख होनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों टीकाएँ साथ साथ बनाई गई हैं। इस चर्चासे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाँचो मूल कर्मग्रन्थ उसी क्रमसे बनाये गये हैं, जिस क्रमसे वे प्रथम, द्वितीय वगैरह कहे जाते हैं। किन्तु स्वयं ग्रन्थकारने उन्हें कहीं प्रथम, द्वितीय आदि कहा हो ऐसा हमारे देखनेमें नहीं आया। मालूम होता है, उनके विषयक्रमको देख कर ही उन्हें प्रथम द्वितीय आदि नाम दे दिये गये हैं, क्योंकि कर्मसाहित्यमें वर्णनका प्रायः यही क्रम पाया जाता है और वह है भी क्रमबद्ध ही।

४ कर्मग्रन्थोंका विषय–जैसा कि प्रारम्भमें ही बतलाया है और नामसे भी स्पष्ट है, सामान्यरूपसे कर्मग्रन्थोंका प्रतिपाद्य विषय जैन-सिद्धांतका प्रधान अङ्गभूत कर्मसिद्धान्त ही है। विशेषरूपसे–प्रथम कर्मग्रन्थमें ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों और उनके भेद-प्रभेदोंके नाम तथा उनके फलका वर्णन है। दूसरे कर्मग्रन्थमें गुणस्थानोंका स्वरूप समझाकर उनमें प्रकृतियोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्त्वका विचार किया है। अर्थात् यह बतलाया है कि अमुक अमुक गुणस्थानमें अमुक अमुक प्रकृतियोंका बन्ध, अमुक अमुक प्रकृतियोंका उदय, अमुक अमुक प्रकृतियोंकी उदीरणा और अमुक अमुक प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। तीसरे कर्मग्रन्थमें मार्गणाओंके आश्रयसे कर्मप्रकृतियोंके बन्धके स्वामियोंको बतलाया है। अर्थात् यह बतलाया है कि अमुक मार्गणावाला जीव किन किन प्रकृतियोंका बन्ध करता है? चौथे कर्मग्रन्थमें जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, भाव और संख्या ये पाँच विभाग करके उनका विस्तारसे वर्णन किया है। जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन आठ विषयों

१, पृ० ७९। २, पृ० ११२।

चौवीस विषयोंका तो गाथामें नाम निर्देश किया है, और 'च' शब्दसे उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी संग्रहीत की गई हैं। अर्थात् उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीका वर्णन भी इस ग्रन्थमें किया है। इसप्रकार इस गाथाके द्वारा २६ विषयोंका वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई है—ध्रुवबन्धी आदि १२, विपाक ४, बन्ध ४, उसके स्वामी ४ और 'च' शब्दसे दोनों श्रेणियाँ।

सरलताके लिये गाथामें निर्दिष्ट कुछ विषयोंकी परिभाषा जान लेना आवश्यक है। अतः उनकी परिभाषाएँ नीचे दी जाती हैं—

ध्रुवबन्धिनी[1] प्रकृति—अपने कारणके होनेपर, जिस कर्मप्रकृतिका बन्ध अवश्य होता है, उसे ध्रुवबन्धिनी प्रकृति कहते हैं। ऐसी प्रकृति अपने बन्धविच्छेद पर्यन्त हरेक जीवके प्रत्येक समय बंधती है।

अध्रुवबन्धिनी प्रकृति—बन्धके कारणोंके होते हुए भी, जो प्रकृति बंधती भी है और नहीं भी बंधती, उसे अध्रुवबन्धिनी कहते हैं। ऐसी प्रकृति अपने बन्धविच्छेदपर्यन्त बंधती भी है और नहीं भी बंधती।

ध्रुवोदया[2] प्रकृति—अपने उदयकालके अन्त तक जिस प्रकृतिका उदय बराबर रुके बिना होता रहता है, उसे ध्रुवोदया कहते हैं।

अध्रुवोदया प्रकृति—अपने उदयकालके अन्ततक जिस प्रकृतिका उदय बराबर नहीं रहता, कभी उदय होता है और कभी नहीं होता, उसे अध्रुवोदया कहते हैं।

ध्रुवसत्ताका प्रकृति—सम्यक्त्व आदि उत्तरगुणोंकी प्राप्ति होनेसे पहले, अर्थात् मिथ्यात्वदशामें सभी संसारी जीवोंके जो प्रकृति सर्वदा वर्तमान रहती है, उसे ध्रुवसत्ताका कहते हैं। और—

---

१ "नियहेउसंभवेवि हु भयणिज्जो जाण होइ पयडीणं।
वंधो ता अधुवाओ, धुवा अभयणिज्जवंधाओ ॥१५३॥" पञ्चसं०।

२ "अव्वोच्छिन्नो उदओ जाणं पगईण ता धुवोदइया।
वोच्छिन्नो वि हु संभवइ जाण अधुवोदया ताओ ॥१५५॥" पञ्चसं०।

अध्रुवसत्ताका प्रकृति–मिथ्यात्वदशामें जिस प्रकृति की सत्ताका नियम नहीं होता, उसे अध्रुवसत्ताका कहते हैं।

घातिनी प्रकृति–जो कर्मप्रकृति आत्माके ज्ञानादिकगुणोंका घात करती है, उसे घातिनी कहते हैं। वह दो प्रकारकी होती है एक सर्वघातिनी और दूसरी देशघातिनी।

अघातिनी प्रकृति–जो प्रकृति आत्मिक गुणोंका घात नहीं करती, उसे अघातिनी कहते हैं।

पुण्य प्रकृति–जिसका फल शुभ होता है।

पाप प्रकृति–जिसका फल अशुभ होता है।

परावर्तमाना–किसी दूसरी प्रकृतिके बन्ध, उदय अथवा दोनोंको रोककर जिस प्रकृतिका बन्ध, उदय अथवा दोनों होते हैं, उसे परावर्तमाना कहते हैं।

अपरावर्तमाना[1]–किसी दूसरी प्रकृतिके बन्ध, उदय अथवा दोनों को रोके बिना जिस प्रकृतिका बन्ध, उदय अथवा दोनों होते हैं, उसे अपरावर्तमाना कहते हैं।

क्षेत्रविपाका–नया शरीर धारण करनेके लिये जब जीव गमन करता है, उस समय ही अर्थात् विग्रहगतिमें जो कर्मप्रकृति उदयमें आती है, उसे क्षेत्रविपाका कहते हैं।

जीवविपाका–जो प्रकृति जीवमें ही अपना फल देती है, उसे जीवविपाका कहते हैं।

भवविपाका–जो प्रकृति नर-नारकादि भवमें ही फल देती है, अर्थात् जिसके फलसे जीव संसारमें रुकता है उसे भवविपाका कहते हैं।

पुद्गलविपाका–जो प्रकृति शरीररूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुओं

---

१ "विणिवारिय जा गच्छइ बंधं उदयं व अण्णपयडीए।
सा हु परियत्तमाणी अणिवारेंती अपरियत्ता ॥१६१॥" पञ्चसं०।

में अपना फल देती है, उसे पुद्गलविपाका कहते हैं।

इसप्रकार इस ग्रन्थमें वर्णित विभिन्न प्रकृतियोंकी परिभाषाएँ जाननी चाहियें।

१. ध्रुवबन्धिद्वार

क्रमानुसार प्रथम द्वारमें ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

वन्नचउ-तेय-कम्मा गुरुलहु-निमिणो-वघाय-भय-कुच्छा।
मिच्छ-कसाया-वरणा विग्घं धुववंधि सगचत्ता ॥ २ ॥

अर्थ—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और पाँच अन्तराय ये सैतालीस प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं।

भावार्थ—इस गाथामें ग्रन्थकारने ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनाया

---

१ पञ्चसङ्ग्रहकी निम्न गाथामें भी कर्मग्रन्थसे मिलता जुलता निर्देश है—

"धुवबन्धि-धुवोदय-सव्वघाइ-परियत्तमाण-असुभाओ।
पंच य सप्पडिवक्खा पगई य विवागओ चउहा ॥ १३२ ॥"

इसमें ध्रुवबन्धी, ध्रुवोदय, सर्वघाती, परावर्तमान और अशुभ तथा इनके प्रतिपक्षी अध्रुवबन्धी, अध्रुवोदय, देशघाती, अपरावर्तमान और शुभ द्वारोंका तथा चार प्रकारकी विपाका प्रकृतियोंका उल्लेख किया है।

गोमट्टसार कर्मकाण्डमें ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, परावर्तमाना और अपरावर्तमाना प्रकृतियोंको छोड़कर शेष प्रकृतियोंका यथास्थान निर्देश किया है।

२ पञ्चसङ्ग्रह में ध्रुवबन्धिप्रकृतियों को इस प्रकार गिनाया है—

"नाणंतरायदंसण, धुवबंधि कसायमिच्छभयकुच्छा।
अगुरुलघुनिमिणतेयं उवघायं वण्णचउकम्मं ॥ १३३ ॥"

कर्मकी पाँच प्रकृतियाँ अपने अपने बन्धविच्छेद होनेके स्थान तक अवश्य बंधती हैं, तथा इनकी विरोधिनी कोई अन्य प्रकृति भी नहीं है ; अतः ये सब ध्रुवबन्धिनी कहलाती हैं।

इस प्रकार ये सैंतालीस कर्मप्रकृतियाँ अपने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि कारणोंके होनेपर सभी जीवोंके अवश्य बंधती हैं, इसलिये ये ध्रुवबन्धिनी[2] हैं। इनमें ज्ञानावरणकी पांच, दर्शनावरणकी नौ, मोहनीयकी उन्नीस, नामकर्मकी नौ और अन्तरायकी पाँच, इस प्रकार पाँच कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियाँ सम्मिलित हैं।

२. अध्रुवबन्धिद्वार

द्वितीय द्वारका प्रारम्भ करते हुए अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको बतलाते हैं—

तणु-वंगा-गिइ-संघयण-जाइ-गइ-खगइ-पुव्वि-जिणु-सासं।
उज्जोया-यव-परघा-तसवीसा गोय वेयणियं ॥ ३ ॥
हासाइजुयलदुग-वेय-आउ तेवुत्तरी अधुवबन्धा।

अर्थ—शरीर तीन—औदारिक, वैक्रिय और आहारक, उपाङ्ग तीन—औदारिक अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग और आहारक अङ्गोपाङ्ग, संस्थान छह—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक, संहनन छह—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका

१ गोमट्टसार कर्मकाण्ड में इन प्रकृतियों को इस प्रकार गिनाया है—
"घादितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिणवण्णचउ।
सत्तेतालधुवाणं ... ... ॥ १२४ ॥"

२ यशोविजयजीने अपनी टीकामें ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनाया है। देखो—कर्मप्रकृति, बन्धनकरण पृष्ठ ९।

मूलकर्मोंमेंसे नामकर्मकी अट्ठावन, गोत्रकी दो, वेदनीयकी दो, मोहनीयकी सात और आयुकर्मकी चार प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं।

अब बन्ध और उदयकी अपेक्षासे प्रकृतियोंके भङ्ग बतलाते हैं -

भंगा अणाइसाई अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥ ४ ॥

अर्थ—इन कर्मप्रकृतियोंमें अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त, और सादि-सान्त, इस प्रकार चार भङ्ग होते हैं।

भावार्थ—क्रमानुसार अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंको गिनानेके बाद, ध्रुवोदय प्रकृतियोंको बतलाना चाहिये था। किन्तु कर्मप्रकृतियोंके ध्रुवबन्ध और अध्रुवबन्धको बतानेसे पाठकोंके हृदयमें यह जाननेकी उत्सुकता होना स्वाभाविक था कि कर्मबन्धकी कितनी दशाएँ होती हैं। इस उत्सुकताका निराकरण करनेके लिये ग्रन्थकारने बन्धके भङ्गोंका कथन किया है। कर्मप्रकृतियोंके ध्रुवबन्धिनी और अध्रुवबन्धिनी होनेके कारण जैसे बन्धकी दशाएँ बतानेका प्रसङ्ग उपस्थित हुआ, उसी तरह आगे ध्रुवोदया और अध्रुवोदया प्रकृतियोंको गिनानेके कारण उदयकी दशाएँ भी बतलाना आवश्यक था। अतः उक्त चारों भङ्गोंको बन्धमें भी लगा देना चाहिये और उदयमें भी। अर्थात् बन्धमें भी उक्त चारों भङ्ग होते हैं और उदयमें भी। चारों भङ्गोंका लक्षण क्रमशः इस प्रकार है—

अनादि-अनन्त—जिस बन्ध या उदयकी परम्पराका प्रवाह अनादि-

---

१ पञ्चसग्रह में कहा है-

"होइ अणाइ-अणंतो अणाइ-संतो य साइ-संतो य।
बंधो अभव्वभव्वोवसंतजीवेसु इह तिविहो॥ २१६॥"

अर्थ–बन्ध तीन प्रकारका होता है–अनादिअनन्त, अनादिसान्त और सादिसान्त। अभव्योंमें अनादिअनन्त बन्ध होता है, भव्योंमें अनादिसान्त बन्ध होता है और उपशान्तमोह गुणस्थानसे च्युत हुए जीवोंमें सादिसान्त बन्ध होता है।

पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय और चार दर्शनावरण, इन चौदह प्रकृतियोंका उदय बारहवें गुणस्थान तक बराबर होता है, अतः इन्हें ध्रुवोदया कहा है। मोहनीयकर्मकी एक मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयका विच्छेद मिथ्यात्वगुणस्थानके अन्तमें होता है। अतः पहले गुणस्थानमें रहने वाले जीवके मिथ्यात्वका उदय ध्रुव होता है। इसलिये यह प्रकृति ध्रुवोदया है। इस प्रकार नामकर्मकी १२, ज्ञानावरणकी ५, अन्तरायकी ५, दर्शनावरणकी ४ और मोहनीयकी १, कुल सत्ताईस प्रकृतियाँ ध्रुवोदया हैं।
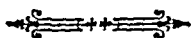
४. अध्रुवोदयद्वार

अब चतुर्थद्वारमें अध्रुवोदयप्रकृतियोंको गिनाते हैं—

थिर-सुभियर विणु अधुवबन्धी मिच्छ विणु मोहधुवबन्धी।
निद्दो-वघाय-मीसं, संमं पणनवइ अधुवुदया ॥ ७ ॥

अर्थ—स्थिर, अस्थिर, शुभ और अशुभके विना शेष ६९ अध्रुवबन्धिप्रकृतियाँ, मिथ्यात्वके विना मोहनीयकर्मकी १८ ध्रुवबन्धिप्रकृतियाँ, पाँच निद्रा, उपघात, मिश्र और सम्यक्त्व, ये ९५ प्रकृतियाँ अध्रुवोदया हैं।

भावार्थ—इससे पूर्वकी गाथामें २७ ध्रुवोदयप्रकृतियोंको गिनाया है। और आठों कर्मोंकी कुल उदयप्रकृतियाँ १२२ हैं। अतः शेष ९५ प्रकृतियाँ अध्रुवोदया हैं, जो इस गाथामें बतलाई गई हैं। उनमें स्थिर आदि चारके सिवाय शेष ६९ अध्रुवबन्धिप्रकृतियाँ अध्रुवोदया हैं। उनहत्तर प्रकृतियोंमेंसे तीर्थंकर, उच्छ्वास, उद्योत, आतप और पराघात, इन पाँच प्रकृतियों का उदय किसी जीवके होता है और किसी जीवके नहीं होता है। तथा शेष ६४ प्रकृतियाँ जैसे बन्धदशामें विरोधिनी हैं वैसेही उदयदशामें भी विरोधिनी हैं, अतः अध्रुवोदया हैं।

तथा, सोलहकषाय, भय और जुगुप्सा, मोहनीयकर्मकी ये अट्ठारह

यह प्रकृति भी अध्रुवोदया है। इस प्रकार ९५ प्रकृतियाँ अध्रुवोदया हैं। इनके उदयका विच्छेद होने पर भी पुनः उदय होने लगता है।

शङ्का–यदि अध्रुवोदयकी यही परिभाषा है तो मिथ्यात्वको भी अध्रुवोदय कहना चाहिये, क्योंकि सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर उसके उदयका विच्छेद होजाता है, और सम्यक्त्वके छूट जाने पर पुनः उसका उदय होने लगता है।

उत्तर–उदयके विच्छेदके न होने पर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिके निमित्तसे जिन प्रकृतियोंका उदय कभी होता है और कभी नहीं होता है, उन्हें अध्रुवोदया कहते हैं। जैसे, बारहवें गुणस्थान तक निद्राका उदय बतलाया है। किन्तु उसका उदय सर्वदा नहीं होता। परन्तु मिथ्यात्व-कर्ममें यह बात नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वका उदय केवल पहलेही गुणस्थानमें बतलाया है और वहाँ उसके उदयका प्रवाह एक क्षणके लिये भी नहीं रुकता, अतः वह ध्रुवोदय ही है[1]।

यहाँ पूर्वकोटीपृथक्त्वसे तीन अथवा चार पूर्वकोटी लेना चाहिये, जैसा कि कोट्याचार्य ने अपनी टीकामें लिखा है–

"तिसृभिश्चतसृभिर्वा पूर्वकोटिभिरधिकानीति शेषः।" पृ० ७८२।

१ कर्मप्रकृतिकी यशोविजयकृत टीकामें ध्रुवोदया और अध्रुवोदया प्रकृतियोंको गिनाया है–पृ० १०।

५-६ ध्रुव-अध्रुवसत्ताकद्वार

पञ्चम और षष्ठ द्वारका एक साथ उद्घाटन करते हुए दो ग
से ध्रुवसत्ताका और अध्रुवसत्ताका प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

तस-वन्नवीस सगतेय-कम्म धुवबंधि सेस वेयतिगं ।
आगिइतिग वेयणियं दुजुयल सगउरल सासचऊ ॥
खगई-तिरिदुग नीयं धुवसंता संम मीस मणुयदुगं ।
विउविक्कार जिणा-ऊ हारसगु-च्चा अधुवसंता ॥ ९ ॥

अर्थ—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग,
आदेय, यशःकीर्ति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर,
दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, ये त्रसादिक बीस प्रकृतिय
वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श, ये वर्णादि बीस प्रकृतियाँ, तै
कार्मणशरीर, तैजसतैजसबन्धन, तैजसकार्मणबन्धन, कार्मणकार्
तैजससङ्घातन, कार्मणसङ्घातन, ये तैजसकार्मणसप्तक, वर्णचतुष्
और कार्मणके सिवाय शेष इकतालीस ध्रुवबन्धिप्रकृतियाँ, तीन वेद,
त्रिक अर्थात् ६ संस्थान, ६ संहनन और पाँच जाति, वेदनीय, ह
और शोक अरतिके दो युगल, औदारिकशरीर, औदारिका
औदारिकसङ्घात, औदारिकऔदारिकबन्धन, औदारिकतैजसबन्धन,
रिककार्मणबन्धन, औदारिकतैजसकार्मणबन्धन, ये सात औदारिक प्र
उच्छ्वास, उद्योत, आतप और पराघात, ये उच्छ्वास आदि च
विहायोगति, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, नीचगोत्र, ये एकसौ तीन
ध्रुवसत्ताका हैं— सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे पहले सभी जीवोंके इन
रहती हैं । तथा, सम्यक्त्व, मिश्र, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी,
देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रियअङ्गोपाङ्ग,
सङ्घातन, वैक्रियवैक्रियबन्धन, वैक्रियतैजसबन्धन, वैक्रियकार्मणबन्धन

हो रहा है, उस समय उसका बन्ध भी होना आवश्यक नहीं है। किन्तु जो प्रकृति बन्धदशामें है और जिनका उदय हो रहा है, उन दोनोंकी ही सत्ताका होना आवश्यक है। अतः बन्धदशाकी और उदयदशाकी प्रकृतियाँ सत्तामें रहती ही हैं। तथा, मिथ्यात्वदशामें जिनकी सत्ता नियमसे नहीं होती, ऐसी प्रकृतियाँ भी कम ही हैं। इन कारणोंसे ध्रुवसत्ताका प्रकृतियोंकी संख्या अधिक है और अध्रुवसत्ताकाकी कम। अस्तु,

त्रसादि बीस, वर्णादि बीस और तैजसकार्मणसप्तककी सत्ता सभी संसारी जीवोंके रहती है, अतः ये ध्रुवसत्ताक हैं। सैतालीस ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंमेंसे वर्णचतुष्क और तैजस तथा कार्मणको इसलिये कमकर दिया है कि उन्हें गाथाके प्रारम्भमें ही अलगसे गिना दिया है। वैसे तो जो ध्रुवबन्धिनी हैं उन्हें ध्रुवसत्ताका होना ही चाहिये; क्योंकि जिनका बन्ध सर्वदा होता है उनकी सत्ता सर्वदा क्यों न रहेगी? तीनों वेदोंका बन्ध और उदय अध्रुव बतलाया था किन्तु उनकी सत्ता ध्रुव है, क्योंकि वेदोंका बन्ध बारी बारीसे होता रहता है। आकृतित्रिक अर्थात् संस्थान संहनन, और जाति भी पूर्ववत् ध्रुवसत्ताक हैं। परस्परमें दलोंकी संक्रान्ति होनेकी अपेक्षासे वेदनीयद्विक ध्रुवसत्ताक है। हास्य, रति और अरति शोककी सत्ता नौंवे गुणस्थान तक सभी जीवोंके होती है। औदारिकसप्तककी सत्ता भी सर्वदा रहती है, क्योंकि मनुष्यगति और तिर्यञ्चगतिमें इनका उदय रहता है और देवगति तथा नरकगतिमें इनका बन्ध होता है। इसी प्रकार उच्छ्वास आदि चार, विहायोगतिका युगल, तिर्यग्द्विक और नीचगोत्रकी भी सत्ता सर्वदा रहती है। सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे पहले सभी जीवोंके ये प्रकृतियाँ सर्वदा रहती हैं, इसीसे इन्हें ध्रुवसत्तावाली कहा जाता है।

शङ्का-अनन्तानुबन्धीकषायका उद्वलन हो जाता है अतः उसे भी अध्रुवसत्ताक मानना चाहिये।

उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही अनन्तानुबन्धी कषायका उद्वलन होता

और अध्रुवसत्ताका विचार सभी जीवोंकी अपेक्षासे किया जाता है, जीवोंने सम्यक्त्व आदि उत्तरगुणोंको प्राप्त नहीं किया है। अतः अनन्तानुबन्धीको ध्रुवसत्ताक ही मानना चाहिये। यदि उत्तरगुणोंकी प्राप्तिकी अपेक्षासे अध्रुवसत्ताको माना जायेगा, तो केवल अनन्तानुबन्धी कषाय ही अध्रुवसत्ताक नहीं कहलायेगी, बल्कि सभी प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताक कहलायेंगी, क्योंकि उत्तरगुणोंके होनेपर सभी प्रकृतियाँ अपने अपने योग्यस्थानमें सत्ताविच्छिन्न हो जाती हैं।

शेष अट्ठाईस प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताक हैं; क्योंकि सम्यक्त्व और

१ कर्मप्रकृतिकी उपाध्याय यशोविजयकृत टीकामें, पृष्ठ १० पर ध्रुवसत्ताक प्रकृतियाँ तो १३० ही बतलाई हैं किन्तु अध्रुवसत्ताक २८ बतलाई हैं। इसका कारण यह है कि उसमें वैक्रिय एकादशके स्थानमें वैक्रियषट्क ही लिया गया है, और आहारक सप्तकके स्थानमें आहारकद्विक लिया है। इस प्रकार वैक्रियसंघातन, वैक्रियवैक्रियबन्धन, वैक्रियतैजसबन्धन, वैक्रियकार्मणबन्धन, वैक्रियतैजसकार्मणबन्धन, आहारकसंघातन, आहारकआहारकबन्धन, आहारकतैजसबन्धन, आहारककार्मणबन्धन और आहारकतैजसकार्मणबन्धन, इन दस प्रकृतियोंको सत्तामें सम्मिलित नहीं किया है। इसपर कर्मप्रकृतिमें एक टिप्पणी है, जिसका आशय है कि पञ्चसङ्ग्रहके तृतीयद्वार की ३३ वीं गाथाके चतुर्थपादमें 'अट्ठारस अधुवसत्ताओ' आया है। उसीके आधारपर उपाध्यायजीने १८ अध्रुवसत्ताक प्रकृतियाँ बतलाई हैं। किन्तु मलयगिरिकी वृत्तिमें गर्गर्षिके मतानुसार १३० प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताक ही हैं। उसका अनुसरण करके उपाध्यायजीने भी १३० प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताक बतलाई हैं। पञ्चसङ्ग्रह में १८ अध्रुवसत्ताक प्रकृतियोंको इसप्रकार गिनाया है–

"उच्चं तित्थं सम्मं मीसं वेउव्विछक्कमाऊणि।
मणुदुग आहारदुगं अट्ठारस अधुवसत्ताओ ॥ ३'३३ ॥"

अर्थात्–उच्चगोत्र, तीर्थङ्कर, सम्यक्त्व, मिश्र, वैक्रियषट्क, चारों आयु,

मिश्रकी सत्ता अभव्योंके तो होती ही नहीं, किन्तु बहुतसे भव्योंके भी नहीं होती है। तथा, तेजकाय और वायुकायके जीव मनुष्यद्विककी उद्वलना कर देते हैं, अतः मनुष्यद्विककी सत्ता उनके नहीं होती है। वैक्रिय आदि ग्यारह प्रकृतियोंकी सत्ता अनादि निगोदिया जीवके नहीं होती, तथा जो जीव उनका बन्ध करके एकेन्द्रिय में जाकर उद्वलन कर देते हैं, उनके भी नहीं होती है। तथा, सम्यक्त्वके होते हुए भी जिननाम किसीके होता है और किसीके नहीं होता है। तथा, स्थावरोंके देवायु और नरकायुका, अहमिन्द्रोंके तिर्यगायुका, तेजकाय, वायुकाय और सातवें नरकके नारकियोंके मनुष्यायुका, सर्वथा बन्ध न होनेके कारण उनकी सत्ता नहीं है। तथा, संयमके होनेपर भी आहारकसप्तक किसीके होते हैं और किसीके नहीं होते। तथा उच्चगोत्र भी अनादि निगोदिया जीवोंके नहीं होता, उद्वलन हो जानेपर तेजोकाय और वायुकायके भी नहीं होता। अतः ये अट्ठाईस प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ताका हैं।

अब तीन गाथाओंके द्वारा, गुणस्थानों में कुछ प्रकृतियोंकी ध्रुवसत्ता और अध्रुवसत्ता का निरूपण करते हैं—

पढमतिगुणेसु मिच्छं नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं।
सासाणे खलु सम्मं संतं मिच्छाइदसगे वा ॥ १० ॥

अर्थ—आदिके तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्वमोहनीयकी सत्ता अवश्य होती है। और असंयत सम्यग्दृष्टिसे आदि लेकर आठ गुणस्थानोंमें मिथ्यात्व-की सत्ता भजनीय है, अर्थात् किसीके होती है और किसीके नहीं होती। सासादन नामक दूसरे गुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीयकी सत्ता नियमसे होती है। किन्तु सासादनके सिवाय मिथ्यादृष्टि आदि दस गुणस्थानोंमें सम्यक्त्वमोहनीयकी सत्ता 'वा' अर्थात् विकल्पसे होती है।

भावार्थ—इस गाथा में मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयके

मनुष्यद्विक और आहारकसप्तक, ये अठारह अध्रुवसत्ताका प्रकृतियाँ हैं।

अस्तित्वका विचार गुणस्थानों में किया है और बतलाया है कि किस गुण-स्थानमें ये नियमसे रहती हैं और किस गुणस्थानमें अनियमसे। इसको स्पष्ट करनेके लिये मोहनीयकर्मकी इन प्रकृतियोंके सम्बन्धमें कुछ विशेष विवेचन करना अनुपयुक्त न होगा।

ऊपर बन्ध, उदय और सत्त्व प्रकृतियोंको बतलाते समय बन्ध-प्रकृतियोंकी संख्या १२०, उदयप्रकृतियोंकी संख्या १२२ और सत्त्वप्रकृ-तियोंकी संख्या १५८ बतला आये हैं। उदय और सत्व प्रकृतियोंकी संख्या में अन्तर होनेका कारण तो वहीं बतला दिया है, किन्तु बन्ध और उदय प्रकृतियोंकी संख्यामें अन्तर पड़नेका कारण नहीं बतलाया है। उसे यहाँ बतलाते हैं।

कर्म प्रकृतियोंके बन्ध, उदय और सत्ताके सम्बन्धमें एक सामान्य नियम यह है कि जिन कर्मप्रकृतियोंका बन्ध होता है, बन्ध होनेके पश्चात् वे ही कर्मप्रकृतियाँ सत्तामें रहती हैं, और उदयकाल आनेपर उनका ही उदय होता है। विचारसे भी यही बात प्रमाणित होती है, क्योंकि जिन कर्मोंको बांधा ही नहीं, उनका अस्तित्व और उदय कैसे हो सकता है? किन्तु इस सामान्य नियमका भी एक अपवाद है। दर्शनमोहनीयकर्मकी तीन प्रकृति-योंमेंसे केवल एक मिथ्यात्वमोहनीयका ही बन्ध होता है, शेष दो प्रकृतियाँ— सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय बन्धके विना ही उदयमें आती हैं। इसका कारण निम्न प्रकार है—

जब कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम बार सम्यक्त्व ग्रहण करनेके

---

१ "सव्वुवसमणा मोहस्सेव उ तस्सुवसमक्कियाजोग्गो।
पञ्चेदिओ उ सन्नी पज्जत्तो लद्धितिगजुत्तो ॥२॥" कर्मप्रकृति(उपशमना०)
"लद्धितिगजुत्तो'त्ति-पंचिंदितो सण्णी पज्जतो एयाहिं लद्धीहिं सहितो, अहवा उवसमलद्धी उवएससवणलद्धी पउग्गलद्धिरिति एयाहिं सहिओ"। चूर्णि।

अभिमुख होता है, जो तीन लब्धियोंसे युक्त होता हुआ करणलब्धिको करता है। करणका अर्थ परिणाम होता है और लब्धिका अर्थ प्राप्ति या शक्ति होता है। अर्थात् उस समय उस जीवको ऐसे २ उत्कृष्ट परिणामोंकी प्राप्ति होती है, जो अनादि कालसे पड़ी हुई मिथ्यात्वरूपी ग्रंन्थि अर्थात् गाँठका भेदन

अर्थात्-सर्वोपशमना मोहनीयकर्मकी ही होती है। जो जीव उसका पूरा पूरा उपशमन करनेके योग्य है वह पंचेन्द्रिय, सैनी और पर्याप्तक इन तीन लब्धियों से, अथवा उपशमलब्धि, उपदेशश्रवणलब्धि और प्रायोग्य-लब्धि अर्थात् तीनकरणमें कारणभूत उत्कृष्ट योगलब्धिसे युक्त होता है। अर्थात् पंचेन्द्रिय सैनी पर्याप्तक जीवही उपशमना वगैरह लब्धियोंके होनेपर मोहनीयकर्मका सर्वोपशमन करता है।

लब्धिसार में क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्य-लब्धि और करणलब्धि, इस प्रकार पांच लब्धियाँ बतलाई हैं। यथा–

"खयउवसमिय विसोही देसण पाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं सम्मत्तचारित्ते ॥ ३॥"

इनमेंसे प्रारम्भ की चार लब्धियाँ साधारण हैं-भव्य और अभव्य दोनों के होती हैं। किन्तु करणलब्धि भव्य ही के सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्तिके समय होती है।

आगे गा० ४, ५, ६, वगैरहमें इन लब्धियों का स्वरूप बतलाया है।

१ विशेषावश्यक भाष्यमें इस ग्रन्थिका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है–

"गंठित्ति सुदुब्भेयो कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व।
जीवस्स कम्मजणिओ घणरागद्दोसपरिणामो ॥ ११९५ ॥"

अर्थात्-कर्मोंसे होनेवाले जीवके तीव्र रागद्वेषरूपी परिणामोंको ग्रन्थि कहते हैं। कठोर पकी हुई सूखी गाँठकी तरह, इस कर्मग्रन्थिका भी भेदन करना अर्थात् खोलना बड़ा कठिन कार्य है।

लकीरमें नीचेकी ओर दो निशान लगे हैं। यह निशान इस बातको बतलाते हैं कि इस लकीरका दोनों निशानोंके बीचका भाग वहाँसे हटाकर नीचे या ऊपरके भागमें मिला देना चाहिये और इस प्रकार उतने भागको खाली कर देना चाहिये। तब इस लकीरकी दशा इस प्रकार होगी——— ——।
इस प्रकार इस लकीरके बीचमें अन्तर पड़ जाता है। यदि हम नीचेकी ओरसे इस लकीरपर अंगुली फेरते हुए ऊपरकी ओर बढ़ें तो हमारी अंगुली कुछ समयतक लकीरपर रहकर फिर बिना लकीरवाले स्थानपर आ जायेगी और क्षणभरमें उस स्थानसे निकलकर पुनः लकीरवाले स्थानपर आ जायेगी। इस प्रकार क्षणभरके लिये हमारी अंगुलीको बिना लकीरके ही चलना होगा। इसी तरह मिथ्यात्वके उदयका जो प्रवाह चला आ रहा है, अन्तरकरणके द्वारा उस प्रवाहका ताँता एक अन्तर्मुहूर्तके लिये तोड़ दिया जाता है और इस प्रकार मिथ्यात्वकी स्थितिके दो भाग कर दिये जाते हैं, नीचेका भाग प्रथमस्थिति कहलाता है और ऊपरका भाग द्वितीयस्थिति। इस प्रथम-स्थिति और द्वितीयस्थितिके बीचके उन दलिकोंको, जो अन्तर्मुहूर्तकालमें उदय आनेवाले हैं, अन्तरकरणके द्वारा इधर उधर खपा दिया जाताहै। अर्थात् उन दलिकोंको अपने अपने स्थानसे उठाकर कुछको प्रथमस्थितिमें डाल दिया जाता है और कुछको द्वितीयस्थितिमें डाल दिया जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्वके दलिकोंसे रहित जो शुद्ध भूमि होती है, उसे अन्तरकरण कहते हैं। इस अन्तरकरणके लिये जो क्रिया की जाती है, अर्थात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिके दलिकोंको उठाकर उनका इधर उधर क्षेपण किया जाता है, तथा उस क्रियामें जो काल लगता है, उपचारसे उन्हें भी अन्तरकरण कह देते हैं।

इस क्रियाके पूर्ण होनेके बाद मिथ्यात्वकी प्रथमस्थिति भी पूरी हो जाती है। उसके पूरी होते ही अन्तर्मुहूर्तकालके लिये मिथ्यात्वके उदयका अभाव हो जानेसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व प्रगट हो जाता है। इस उपशम सम्यक्त्व

के प्रकट होनेसे पहले समयमें अर्थात् मिथ्यात्वकर्मकी प्रथमस्थितिके अ

१ कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णि और पञ्चसंग्रहके रचयिताओंका म कि उपशमसम्यक्त्वके प्रकट होने से पहले अर्थात् मिथ्यात्वकी प्रथमस्थि अन्तिम समयमें द्वितीयस्थितिमें वर्तमान मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज करता [देखो कर्मप्रकृति उपशमनाकरण गा० १९ और पञ्चसंग्रह उपश० २२] और लब्धिसारके कर्ताके मतसे जिस समय सम्यक्त्व प्राप्त हो उसी समय तीन पुञ्ज करता है। देखो-लब्धिसार गा० ८९।

मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज करनेमें सैद्धान्तिकों और कर्मशास्त्रियोंमें मौलिक मतभेद है। सिद्धान्तशास्त्रियोंके मतसे औपशमिकसम्यक्त्वकी प्र लिये तीन पुञ्ज करना आवश्यक नहीं है, तीन पुञ्ज किये बिना भी शमिकसम्यक्त्व हो सकता है। जैसा कि विशेषा० भा० की निम्न से स्पष्ट है—

"उवसामगसेढिगयस्स होइ उवसामियं तु सम्मत्तं।
जो वा अकयतिपुञ्जो अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥५३२॥

अर्थात्—जो जीव उपशम श्रेणि चढ़ता है, उसके औपशमिक सम होता है। तथा, जो अनादिमिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज नहीं और न मिथ्यात्वका क्षपण ही करता है, उसके भी औपशमिकसम होता है।

विशेषा० भा० की गा० ५३० की टीकामें श्रीहेमचन्द्रसूरिने इस म का उल्लेख करते हुए लिखा है—"सैद्धान्तिकानां तावदेतद् मतं यदुत अ मिथ्यादृष्टिः कोऽपि तथाविधसामग्रीसद्भावेऽपूर्वकरणेन पुञ्जत्रयं शुद्धपुञ्जपुद्गलान् वेदयन् औपशमिकं सम्यक्त्वमलब्ध्वैव प्रथमत क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भवति। अन्यस्तु यथाप्रवृत्त्यादिकरणत्रयक्र न्तरकरणे औपशमिकं सम्यक्त्वं लभते, पुञ्जत्रयं त्वसौ न करो

समयमें द्वितीय स्थितिमें वर्तमान मिथ्यात्वकर्मके दलिक अनुभागको

ततश्च औपशमिकसम्यक्त्वाच्च्युतोऽवश्यं मिथ्यात्वमेव गच्छति।.....
कार्मग्रन्थिकास्त्विदमेव मन्यन्ते यदुत सर्वोऽपि मिथ्यादृष्टिः प्रथमसम्य
क्त्वलाभकाले यथाप्रवृत्त्यादिकरणत्रयपूर्वकमन्तरकरणं करोति, तत्र औप
शमिकं सम्यक्त्वं लभते, पुञ्जत्रयं चाऽसौ विदधात्येव। अत एव औप
शमिकसम्यक्त्वाच्च्युतोऽसौ क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिः मिश्रः मिथ्यादृष्टि
र्वा भवति॥' इसका आशय इस प्रकार है–

"सैद्धान्तिकोंका मत है कि कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उस प्रकारकी सामग्रीके मिलनेपर, अपूर्वकरणके द्वारा मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज करता है और शुद्धपुञ्ज अर्थात् सम्यक्त्वप्रकृतिका अनुभव न करता हुआ, औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त किये बिना ही, सबसे पहले क्षायोपशमिकसम्यक्त्वको प्राप्त करता है। तथा कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको क्रमसे करके अन्तरकरण करनेपर औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करता है किन्तु वह मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज नहीं करता है। इसीसे औपशमिक सम्यक्त्वके छूट जानेपर वह जीव नियमसे मिथ्यात्वमें ही जाता है।.........किन्तु कर्मशास्त्रियोंका मत है कि सभी मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमसम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंको करते हुए अन्तरकरण करते हैं और ऐसा करनेपर उन्हें औपशमिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। ये जीव मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज अवश्य करते हैं। इसी लिये उनके मतसे औपशमिक सम्यक्त्वके छूट जानेपर जीव क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि होता है।"

इन मतोंमेंसे दिगम्बर परम्परामें कर्मशास्त्रियोंका मत ही हमारे देखनेमें आया है। सिद्धान्तशास्त्रियोंके मतका वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता।

तमताको लिये हुए तीन रूप हो जाते हैं—शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध दलिकोंको सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं, अर्धशुद्ध दलिकोंको मिश्र या सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय कहते हैं और अशुद्ध दलिक मिथ्यात्वमोहनीय कहलाते हैं। इस प्रकार प्रथमोपशमसम्यक्त्वके माहात्म्यसे एक मिथ्यात्व-प्रकृति तीन रूप हो जाती है और ऐसा होनेसे अस्तित्व और उदय में दो प्रकृतियाँ बढ़ जाती हैं। अस्तु,

१ कर्मकाण्डमें लिखा है–

"जन्तेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजन्तेण।
मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा ॥ २६ ॥"

अर्थात्–'जैसे चाकीमें दलनेसे कोदोंके तुष, चावल और कन, इस तरह तीन रूप हो जाते हैं। वैसे ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूपी भावयन्त्रके द्वारा एक मिथ्यात्वप्रकृतिका द्रव्य मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतिरूप हो जाता है। इन तीनोंका द्रव्य उत्तरोत्तर असंख्यात-गुणहीन होता है।'

२ "दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥१४॥" प्र० कर्मग्र०।

अर्थात्–'दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं–सम्यक्त्व, मिश्र और मिथ्यात्व। ये तीनों क्रमशः शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध होते हैं।' आशय यह है कि जैसे कोदों मद उत्पन्न करते हैं, किन्तु उन्हें पानी से धो डालने पर जो शुद्ध हो जाते हैं, वे मद नहीं करते, जो कम शुद्ध हो पाते हैं वे थोड़ा मद करते हैं, और जो अशुद्ध होते हैं, वे तो पूरे मादक होते ही हैं। इसी तरह मिथ्यात्वका जो द्रव्य भावोंके द्वारा शुद्ध हो जाता है, और [illegible] करनेमें समर्थ होता है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं। जो कम शुद्ध होता है और इसलिये सम्यक्त्वको हानि पहुँचाता है, वह मिश्र कहलाता है, और जो बिल्कुल अशुद्ध होता है और सम्यक्त्वको घातता है, वह मिथ्यात्व कहलाता है।

आहारसत्तगं वा सव्वगुणे वितिगुणे विणा तित्थं ।
नोभयसंते मिच्छो अंतमहुत्तं भवे तित्थे ॥ १२ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व आदि सभी गुणस्थानोंमें, आहारकशरीर, आहारक-अङ्गोपाङ्ग, आहारकसंघातन, आहारकआहारकबन्धन, आहारकतैजसबन्धन आहारककार्मणबन्धन, और आहारकतैजसकार्मणबन्धन, इन सात प्रकृतियों-

---

होती है, और पांच गुणस्थानोंमें भजनीय है।'

पञ्चसंग्रहमें भी कर्मप्रकृतिके अनुसार सातवें गुणस्थान तक ही अनन्तानुबन्धीका विचार किया है। यथा-

"सासणमीसे मीसं संतं नियमेण नवसु भइयव्वं ।
सासायणंत नियमा पंचसु भज्जा अओ पढमा ॥ ३४२ ॥"

इस प्रकार कर्मप्रकृति और पञ्चसंग्रहमें सातवें गुणस्थान तक ही अनन्तानुबन्धीकी सत्ता स्वीकार की गई है, जब कि कर्मग्रन्थमें ग्यारहवें गुणस्थान तक उसकी सत्ता मानी गई है। इस अन्तरका कारण यह है कि कर्मप्रकृतिकार आदि उपशम श्रेणिमें अनन्तानुबन्धीका सत्त्व नहीं मानते, जब कि कर्मग्रन्थ वाले उसका सत्त्व स्वीकार करते हैं। कर्मप्रकृतिकारका मत है कि जो चारित्रमोहनीयके उपशम करनेका प्रयास करता है, वह अवश्य अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करता है।

कर्मशास्त्रियोंके इस मतभेदका उल्लेख कर्मकाण्डमें भी गा. ३९१ के 'णत्थि अणं उवसमगे' पदके द्वारा किया गया है। कर्मकाण्डके रचयिता ने दोनों मतोंको स्थान दिया है।

१ यह गाथा पञ्चसंग्रहकी निम्न गाथाका स्मरण कराती है-
"सव्वाणवि आहारं सासणमीसेयराण पुण तित्थं ।
उभये संति न मिच्छे तित्थगरे अंतरमुहुत्तं ॥ ३४८ ॥"

का, जिन्हें आहारकचतुष्क कहते हैं, अस्तित्व विकल्पसे होता है। दूसरे और तीसरे गुणस्थानके सिवाय शेष सभी गुणस्थानोंमें तीर्थङ्करप्रकृतिका सत्त्व भी विकल्पसे होता है। तीर्थङ्कर तथा आहारकचतुष्कका अस्तित्व जिस जीवके होता है, वह मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नहीं आता। तीर्थङ्करप्रकृतिकी सत्तावाला कोई जीव यदि मिथ्यात्वमें आता है तो केवल अन्तर्मुहूर्तके ही लिये आता है।

भावार्थ—इस गाथामें आहारकप्रकृति और तीर्थङ्करप्रकृतिके अस्तित्वका विचार गुणस्थानोंमें करते हुए बतलाया है कि ऐसा एक भी गुणस्थान नहीं है जिसमें आहारकनामकर्मकी सत्ता नियमसे होती हो। अर्थात् सभी गुणस्थानोंमें इसकी सत्ता अध्रुव होती है। इसका कारण यह है कि यह एक प्रशस्त प्रकृति है और इसका बन्ध कोई कोई विशुद्ध चरित्रके धारक अप्रमत्तसंयमी ही करते हैं। जब कोई उत्कृष्टसंयमी आहारकचतुष्कका बन्ध करके विशुद्ध परिणामोंके कारण ऊपरके गुणस्थानोंमें जाता है, अथवा अविशुद्ध परिणामोंके कारण ऊपरके गुणस्थानोंसे नीचेके गुणस्थानोंमें आता है, तब उसके सभी गुणस्थानोंमें आहारकचतुष्ककी सत्ता रहती है। किन्तु जो मुनि आहारकचतुष्कका बन्ध किये बिना ही ऊपरके गुणस्थानोंमें जाता है, अथवा ऊपरसे नीचेके गुणस्थानोंमें आता है, उसके उन गुणस्थानोंमें आहारकचतुष्ककी सत्ता नहीं पाई जाती। अतः यह प्रकृति सभी गुणस्थानोंमें विकल्पसे रहती है।

तथा, तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थान-

---

१ आहारक और तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धका कारण बतलाते हुए पञ्चसंग्रहमें लिखा है—

"तित्थयराहाराणं बंधे सम्मत्तसंजमा हेऊ ॥ २०४ ॥"

अर्थात्—'तीर्थङ्करके बन्धमें सम्यक्त्व कारण है, और आहारकके बन्धमें संयम कारण है।'

के छठवें भाग तक किसी किसी विशुद्धसम्यग्दृष्टि जीवके होता है। अतः इन गुणस्थानोंमें तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध करके जब कोई जीव ऊपरके गुणस्थानोंमें जाता है तो उनमें तीर्थङ्करप्रकृति की सत्ता पाई जाती है। तथा यदि वह जीव अविशुद्ध परिणामोंके कारण नीचेके गुणस्थानोंमें आता है, तो मिथ्यात्वमें ही आता है, क्योंकि तीर्थङ्करकी सत्तावाला जीव दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें नहीं आता। इस प्रकार दूसरे और तीसरे गुणस्थानको छोड़कर शेष बारह गुणस्थानोंमें तीर्थङ्करकी सत्ता रह सकती है। किन्तु यदि कोई जीव विशुद्धसम्यक्त्वके होनेपर भी तीर्थङ्करप्रकृतिका बन्ध नहीं करता, तो उसके सभी गुणस्थानोंमें उस प्रकृतिकी सत्ता नहीं पाई जाती। अतः यह प्रकृति दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें तो पाई ही नहीं जाती, और शेष गुणस्थानोंमें भी किसीके होती है और किसीके नहीं होती। इसलिये इसकी सत्ता अध्रुव जाननी चाहिये।

इस प्रकार इस गाथाके पूर्वार्धसे इस बातका तो निश्चय हो जाता है कि केवल आहारकचतुष्ककी अथवा केवल तीर्थङ्करकी सत्ताके रहते हुए जीव मिथ्यादृष्टि हो सकता है। किन्तु यह शङ्का बनी ही रहती है कि दोनोंके अस्तित्वमें भी मिथ्यादृष्टि हो सकता है या नहीं? उत्तरार्धमें इसका समाधान करनेके लिये लिखा है कि आहारकचतुष्क और तीर्थङ्करकर्मकी सत्ताके रहते हुए जीव मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता। अर्थात् जिस जीवके इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता होती है, उसका पतन नहीं होता, और इसी लिये वह मिथ्यात्वगुणस्थानमें नहीं जाता।

तथा, तीर्थङ्करकी सत्तावाला यदि मिथ्यात्वगुणस्थानमें जाता है तो वहाँ वह अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं ठहरता, क्योंकि उसे एक विशेष कारणसे मिथ्यात्वमें जाना पड़ता है। वह विशेष कारण यह है कि जो जीव पहले नरकायुका बन्ध करके, पीछे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थङ्करप्रकृति-का बन्ध करता है, वह मरणकाल आनेपर सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्या-

इस प्रकार ध्रुवसत्ताक और अध्रुवसत्ताक प्रकृतिद्वारका निरूपण करते हुए ग्रन्थकारने प्रसङ्गवश मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, तीर्थङ्कर और आहारकसप्तककी सत्ताका विचार गुणस्थानोंमें किया है। एक सौ अट्ठावन प्रकृतियोंमें से इन पन्द्रह प्रकृतियोंका ही विशेष विचार क्यों किया गया? यह प्रश्न बहुतसे पाठकोंके चित्तमें उत्पन्न हो सकता है। अतः उसके सम्बन्धमें कुछ लिखना अनुपयुक्त न होगा।

आगे कर्मप्रकृतियोंका प्रशस्त और अप्रशस्त रूपसे बँटवारा करेंगे। इन पन्द्रह कर्मप्रकृतियोंमें भी प्रारम्भकी सात प्रकृतियाँ अप्रशस्त हैं और शेष आठ प्रशस्त हैं। अप्रशस्त प्रकृतियोंमें उक्त सात प्रकृतियाँ प्रधान हैं और उनका जीवनके उत्थान और पतनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि जिसकी प्राप्ति पर जीवनका अन्तिम ध्येय परमपुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति निर्भर है, उस सम्यक्त्वगुणका घात उक्त सातों ही प्रकृतियाँ करती हैं। जबतक उनसे छुटकारा नहीं मिलता, तबतक जीव अपना वास्तविक कल्याण नहीं कर सकता। तथा उन सातोंके चले जानेपर कर्मोंकी सेना एकदम निस्सत्व और जीवनहीन हो

बतलाते हुए उसमें लिखा है—

"तित्थाहारा जुगवं सव्वं तित्थं ण मिच्छगादितिये।
तस्सत्तकम्मियाणं तग्गुणठाणं ण संभवदि॥ ३३३॥"

अर्थात्—'मिथ्यात्व गुणस्थानमें तीर्थङ्कर और आहारक एक साथ नहीं रहते। सासादनमें दोनों न एक साथ ही रहते हैं और न पृथक् पृथक् ही। मिश्रमें तीर्थङ्करका सत्व नहीं होता, क्योंकि उन प्रकृतियोंकी सत्तावाले जीवोंके मिथ्यात्व आदि गुणस्थान ही नहीं होते हैं।' यहां सासादनमें आहारकका भी सत्त्व स्वीकार नहीं किया है, जब कि कर्मग्रन्थमें स्वीकार किया है। कर्मकाण्ड गा० ३७३ से यह स्पष्ट है कि सासादनमें आहारककी सत्ताको लेकर कर्मशास्त्रियोंमें मत भेद है। एक पक्ष उसमें आहारककी सत्ता स्वीकार करता है और दूसरा पक्ष उसका सत्त्व स्वीकार नहीं करता है।

जाती है, अतः उक्त सात प्रकृतियाँ सभी प्रकृतियोंकी सिरमौर हैं। जैसे अप्रशस्त प्रकृतियोंमें उक्त सात प्रकृतियाँ प्रधान हैं, उसी तरह प्रशस्त प्रकृतियोंमें आहारकसप्तक और तीर्थङ्करप्रकृति प्रधान हैं। आहारकसप्तकका बन्ध विरले ही तपस्वियोंके होता है और तीर्थङ्कर प्रकृति तो उससे भी विरल इने गिने नररत्नोंके बँधती है। पूर्वजन्ममें इसका बन्ध करके ही भगवान महावीर सरीखे महापुरुष तीर्थङ्कर होते हैं। अतः ग्रन्थकारने प्रशस्त और अप्रशस्त प्रकृतियोंकी सिरमौर उक्त पन्द्रह प्रकृतियोंका ही विवेचन किया है। और इस विवेचनके साथ ही साथ पाँचवाँ और छठा द्वार समाप्त होता है।
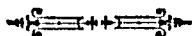
७-८. घाति-अघातिद्वार

अब सातवें सर्वदेशघातिप्रकृतिद्वार और आठवें अघातिप्रकृतिद्वारका वर्णन करते हुए घातिनी और अघातिनी प्रकृतियोंको बतलाते हैं—

केवलजुयलावरणा पणनिद्दा बारसाइमकसाया।
मिच्छं ति सव्वघाई चउणाणतिदंसणावरणा ॥१३॥
संजलण नोकसाया विग्घं इय देसघाइय अघाई।
पत्तेयतणुट्ठाऊ तसवीसा गोयदुग वन्ना ॥ १४॥

अर्थ—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, पाँच निद्रा, आदिकी बारह

१-इओ म० पु०। २-णुट्ठा-म० पु०।

३ निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि।

४ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ।

कषाय, और मिथ्यात्व, ये प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं। तथा चार[1] ज्ञानावरण तीन[2] दर्शनावरण, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ, नव[3] नोकषाय, और पाँच अन्तराय, ये प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं। प्रत्येक प्रकृतियाँ आठ[4], शरीर आदि आठ[5], चार आयु, त्रस आदि बीस, नीच और उच्च गोत्र, सातवेदनीय और असातवेदनीय, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, ये प्रकृतियाँ अघातिनी हैं।

भावार्थ—इन गाथाओंमें घातिनी और अघातिनी प्रकृतियोंको गिनाया है। आठ कर्मोंमेंसे चार घातिकर्म हैं और चार अघातिकर्म हैं। घातिकर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ घातिनी कहलाती हैं और अघातिकर्मोंको अघातिनी। जो प्रकृतियाँ आत्माके गुणोंका घात करती हैं वे घातिनी कहलाती हैं और जो उनका घात करनेमें असमर्थ हैं, वे अघातिनी कहलाती हैं। घातिप्रकृतियोंमें भी दो प्रकार हैं। उनमें कुछ प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं और कुछ देशघातिनी हैं। जो सर्वघातिनी हैं, वे आत्माके गुणोंको पूरी तरहसे घातती हैं, अर्थात् उनका उदय होते हुए कोई आत्मिक गुण प्रकट नहीं हो सकता। उक्त गाथामें बीस प्रकृतियाँ सर्वघातिनी बतलाई हैं, जिनका खुलासा इस प्रकार है—केवलज्ञानावरण आत्माके केवलज्ञानगुणको पूरी तरह आवृत करता है। किन्तु जिस प्रकार मेघपटलके द्वारा सूर्यके पूरी तरह आच्छादित होनेपर भी उसकी प्रभाका कुछ अंश अनावृत ही रहता है, उसी प्रकार सब जीवोंके केवलज्ञानका अनन्तवाँ भाग अनावृत ही रहता है। क्योंकि यदि

---

१ मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण।

२ चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण।

३ हास्य, रति, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा और तीन वेद।

४ पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थङ्कर, निर्माण और उपघात।

५ पाँच शरीर, तीन अङ्गोपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन, पाँच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी।

है। जब कोई छद्मस्थ जीव मति आदि चार ज्ञानोंके विषयभूत वस्तुको भी जाननेमें अशक्त होता है तो इसे उस मतिज्ञानावरण आदि चार आवरणोंके उदयका ही फल समझना चाहिये। किन्तु मति आदि चार ज्ञानोंके अविषयभूत अनन्तगुणोंको जाननेमें जो उसकी असमर्थता है वह केवलज्ञानावरणके उदयका प्रताप समझना चाहिये। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण भी केवलदर्शनावरणसे अनावृत केवलदर्शनके एकदेशको घातते हैं, अतः देशघाती हैं। इनके उदयसे जीव चक्षुदर्शन वगैरहके विषयभूत विषयोंको पूरी तरह नहीं देख सकता। किन्तु उनके अविषयभूत अनन्तगुणोंको केवलदर्शनावरणके उदय होनेके कारण ही देखनेमें असमर्थ होता है। संज्वलन कषाय तथा नवनोकषाय चारित्रके एक देशको ही घातती हैं, अतः देशघाती हैं। क्योंकि इनके उदयसे यती पुरुषोंके मूलगुण और उत्तरगुणोंमें अतीचार लगते हैं, जब कि अन्य कषायोंका उदय अनाचारका जनक है। अन्तरायकर्मकी पाँचों प्रकृतियाँ भी देशघातिनी ही हैं, क्योंकि दान, लाभ, भोग और उपभोगके योग्य जो पुद्गल हैं, वे समस्त पुद्गलद्रव्यके अनन्तवें भाग हैं। अर्थात् सभी पुद्गल द्रव्य इस योग्य नहीं हैं कि उनका लेनदेन वगैरह किया जा सके। देने लेने और भोगनेमें आने योग्य पुद्गल बहुत ही थोड़े हैं। उन भोगने योग्य पुद्गलोंमें से भी एक जीव सभी पुद्गलोंका दान, लाभ, भोग या उपभोग नहीं कर सकता, क्योंकि उन पुद्गलोंका थोड़ा थोड़ा भाग सभी जीवोंके उपयोगमें सर्वदा आता रहता है। अतः दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय और उप-

१ "सव्वेवि य अइयारा संजलणाणं तु उदयओ होंति।
मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं ॥८०२॥" पञ्चाशक।

अर्थ—'संज्वलन कषायके उदयसे सकल अतीचार होते हैं। किन्तु शेष बारह कषायोंके उदयसे मूलका ही छेदन हो जाता है, अर्थात् जड़ से ही नष्ट हो जाता है।'

है। अघातिप्रकृतियोंकी संख्या ७५ है। ये प्रकृतियाँ जीवके ज्ञानादिकगुणों-का घात नहीं करतीं, अतः अघातिनी कहलाती हैं।

९-१०. पुण्य-पापद्वार

सर्वदेशघातिद्वार और उसके प्रतिपक्षी अघातिद्वारको बन्द करके अब पुण्यप्रकृतिद्वार और पापप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

सुर-नर-तिगु-च्च-सायं तसदस तणु-वंग-वइर-चउरंसं।
परघासग तिरिआउं वन्नचउ पणिंदि सुभखगई॥१५॥
बायालपुन्नपगई, अपढमसंठाण-खगइ-संघयणा।
तिरियदुग असाय नीउ-वघाय इगविगल निरयतिगं॥१६॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई।
पावपयडित्ति दोसुवि वन्नाइगहा सुहा असुहा॥१७॥

अर्थ—सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु), नरत्रिक (नरगति, नरानुपूर्वी, नरायु), उच्चगोत्र, सातवेदनीय, त्रसदशक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), पांच शरीर, तीन अङ्गोपाङ्ग, वज्रऋषभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, पराघातसप्तक (पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थङ्कर, निर्माण), तिर्यञ्चायु, वर्ण-चतुष्क, पंचेन्द्रियजाति, प्रशस्त विहायोगति, ये बयालीस पुण्यप्रकृतियाँ हैं।

तथा, पहलेको छोड़कर शेष पाँच संस्थान और पाँच संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, असातावेदनीय, नीच-गोत्र, उपघात, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रिक, नरकत्रिक (नरकगति, नर-

१–तिदु–प्र० पु०। २ नीयव–प्र० पु०।

इसप्रकार पुण्य-पापद्वारका वर्णन समाप्त होता है।

१२. अपरावर्तमानद्वार

पुण्यप्रकृतिद्वार और पापप्रकृतिद्वारको बन्द करके अब ग्यारहवें परावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्घाटन क्रमप्राप्त था किन्तु अपरावर्तमानप्रकृतियोंकी

१ कर्मकाण्डकी गाथा ४१-४२ में पुण्यप्रकृतियाँ और ४३-४४ में पापप्रकृतियाँ गिनाई हैं। दोनों ग्रन्थोंकी गणनाओंमें कोई अन्तर नहीं है। कर्मकाण्डमें केवल इतनी विशेषता है कि उसमें भेदविवक्षामें ६८ और अभेदविवक्षामें ४२ पुण्यप्रकृतियाँ बतलाई हैं। तथा, पापप्रकृतियाँ बन्धदशामें भेदविवक्षासे ९८ और अभेदविवक्षासे ८२ बतलाई हैं और उदयदशामें सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्वको मिलाकर, भेदविवक्षासे १०० और अभेदविवक्षासे ८४ बतलाई हैं। पांच बन्धन, पांच संघात और वर्ण आदि बीसमें से १६, इस प्रकार छब्बीस प्रकृतियोंके भेद और अभेदसे पुण्यप्रकृतियोंमें अन्तर पड़ता है और वर्ण आदि बीसमें से १६ प्रकृतियोंके भेद और अभेदसे पापप्रकृतियोंमें अन्तर पड़ता है। बौद्ध सम्प्रदायमें भी कर्मके ये दो भेद किये हैं-कुशल अथवा पुण्यकर्म और अकुशल अथवा अपुण्यकर्म। जिसका विपाक इष्ट होता है, उसे कुशलकर्म कहते हैं। जिसका विपाक अनिष्ट होता है, उसे अकुशलकर्म कहते हैं। इसी तरह जो सुखका वेदन कराता है वह पुण्यकर्म है और जो दुःखका वेदन कराता है वह अपुण्यकर्म है। यथा-"कुशलं कर्म क्षेमम्, इष्टविपाकत्वात्, अकुशलं कर्म अक्षेमम्, अनिष्टविपाकत्वात्।" ...."पुण्यं कर्म सुखवेदनीयम्, अपुण्यं कर्म दुःखवेदनीयम्।"
(अभिधर्म० व्या० पृ० १०१)

योगदर्शनमें भी पुण्य और पाप भेद किया है। यथा-'कर्माशयः पुण्यापुण्यरूपः।' (पृ० १६२)

संख्या अल्प होनेके कारण पहले अपरावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्‌घाटन करते हैं-

नामधुवबंधिनवगं दंसण-पणनाण-विग्घ-परघायं ।
भय-कुच्छ-मिच्छ-सासं जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥१८॥

अर्थ—नामकर्मकी नौ[1] ध्रुवबन्धिप्रकृतियाँ, चार दर्शनावरण, पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, पराघात, भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, उच्छ्वास और तीर्थङ्कर, ये उनतीस अपरावर्तमानप्रकृतियाँ[2] हैं ।

भावार्थ—इस द्वारमें उनतीस अपरावर्तमानप्रकृतियोंके नाम गिनाये हैं । अर्थात् ये उनतीस प्रकृतियाँ किसी दूसरी प्रकृतिके बन्ध, उदय अथवा दोनोंको रोककर अपना बन्ध, उदय अथवा दोनों नहीं करती हैं । जैसे मिथ्यात्वका बन्ध और उदय किसी अन्य प्रकृतिके बन्ध अथवा उदयको रोककर नहीं होता । अतः यह अपरावर्तमानप्रकृति है । शायद कोई कहे कि मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयके उदयमें मिथ्यात्वका उदय नहीं होता, अतः ये दोनों प्रकृतियाँ मिथ्यात्वके उदयकी विरोधिनी हैं । ऐसी दशामें उसे अपरावर्तमान क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्वका बन्ध और उदय पहले गुणस्थानमें होता है, किन्तु वहाँ मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयका उदय नहीं है । यदि ये दोनों प्रकृतियाँ मिथ्यात्वगुणस्थानमें रहकर मिथ्यात्वके उदयको रोकतीं और स्वयं उदयमें आतीं तो ये विरोधिनी कही जा सकती थीं । किन्तु इनका उदयस्थान भिन्न भिन्न है, एक ही गुणस्थानमें रहकर ये एक दूसरेके बन्ध अथवा उदयका विरोध नहीं करतीं । अतः इन्हें अपरावर्तमान ही जानना चाहिये । इसीप्रकार अन्य प्रकृतियोंके बारेमें भी समझना चाहिये ।

---

१ वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात ।

२ पञ्चसंग्रहमें (गाथा १३८) अपरावर्तमान प्रकृतियोंको गिनाया है ।

११. परावर्तमानद्वार

अब परावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

तणुअट्ठ वेय दुजुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा।
तसवीसा-उ परित्ता,

अर्थ—तनु अष्टक अर्थात् शरीर आदि आठ प्रकृतियाँ, तीन वेद, दो युगल अर्थात् हास्य रति और शोक अरति, सोलह कषाय, उद्योत, आतप, दोनों गोत्र, दोनों वेदनीय, पाँच निद्रा, त्रस आदि बीस अर्थात् त्रसदशक और स्थावरदशक, चार आयु, ये ९१ प्रकृतियाँ परावर्तमाना हैं।

भावार्थ—इस द्वारमें परावर्तमानप्रकृतियोंको बतलाया है। ये प्रकृतियाँ दूसरी प्रकृतियोंके बन्ध, उदय अथवा दोनोंको रोककर ही अपना बन्ध, उदय अथवा दोनों करती हैं, अतः परावर्तमाना हैं। इनमेंसे सोलह कषाय और पाँच निद्रा ध्रुवबन्धिनी होनेके कारण बन्धदशामें तो दूसरी प्रकृतिका उपरोध नहीं करती हैं। तथापि, अपने उदयकालमें अपनी सजातीयप्रकृतिके उदयको रोककर प्रवृत्त होती हैं, अतः परावर्तमाना हैं। क्योंकि क्रोध, मान, माया और लोभमेंसे एक जीवके एक समयमें एक ही कषायका उदय होता है। इसीतरह पाँच निद्राओंमेंसे किसी एक निद्राका उदय होते हुए शेष चार निद्राओंका उदय नहीं होता। तथा, स्थिर, शुभ, अस्थिर और अशुभ, ये चार प्रकृतियाँ उदय दशामें विरोधिनी नहीं हैं, क्योंकि एक जीवके एक समय में चारोंका उदय हो सकता है। किन्तु बन्धदशामें परस्परमें विरोधिनी हैं, क्योंकि स्थिरके साथ अस्थिरका और शुभके साथ अशुभका बन्ध नहीं होता। अतः ये चारों परावर्तमाना हैं। शेष ६६ प्रकृतियाँ बन्ध और उदय दोनों

१ तीन शरीर (क्योंकि तैजस और कार्मण को अपरावर्तमान प्रकृतियोंमें गिना आये हैं), तीन अङ्गोपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन, पाँच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी।

जाता है, जैसे नाथ बैलको उसके गन्तव्यस्थानके अभिमुख करती है। अतः आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकिनी है।

१४-१५ जीव और भवविपाकिद्वार

अब क्रमशः जीवविपाकिनी और भवविपाकिनी प्रकृतियों को कहते हैं-

घणघाइ दुगोय जिणा तसियरतिग सुभगदुभगचउ सासं ।
जाइतिग जियविवागा आऊ चउरो भवविवागा ॥ २० ॥

अर्थ—घातिकर्मोंकी प्रकृतियाँ सैंतालीस, दो गोत्र, दो वेदनीय, तीर्थङ्कर, त्रसत्रिक (त्रस, बादर, पर्याप्त) और इतर स्थावरत्रिक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त), सुभगचतुष्क (सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), दुर्भगचतुष्क (दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति), उच्छ्वास और जातित्रिक (पांच जाति, चार गति, दो विहायोगति), ये अठत्तर प्रकृतियाँ जीवविपाकिनी हैं। चारों आयु भवविपाकिनी हैं।

बाद और नया शरीर धारण करनेसे पहले, अर्थात् विग्रह गतिमें जीवका आकार पूर्वशरीरके सामान बनाये रखता है। और उसका उदय ऋजु और वक्र दोनों गतियोंमें होता है। आनुपूर्वीके भवविपाकी होनेमें एक शङ्का और उसका समाधान निम्न प्रकार है-

"अणुपुव्वीणं उदओ किं संकमणेण नत्थि संतेवि ।
जहखेत्तहेउओ ताण न तह अन्नाण सविवागो ॥१६६॥" पञ्चसं०।

शङ्का—विग्रहगतिके विना भी संक्रमणके द्वारा आनुपूर्वीका उदय होता है, अतः उसे क्षेत्रविपाकी न मानकर गतिकी तरह जीवविपाकी क्यों नहीं माना जाता? **उत्तर**—संक्रमणके द्वारा विग्रहगतिके विना भी, आनुपूर्वीका उदय होता है, किन्तु जैसे उसका क्षेत्रकी प्रधानतासे विपाक होता है, वैसा अन्य किसी भी प्रकृतिका नहीं होता।

भावार्थ—इस गाथामें जीवविपाकिनी और भवविपाकिनी प्रकृतियों को बतलाया है। जो प्रकृतियाँ जीवमें ही अपना फल देती हैं, अर्थात् जीवके ज्ञानादिस्वरूपका घात वगैरह करती हैं, वे जीवविपाकिनी कहलाती हैं। यद्यपि सभी प्रकृतियाँ किसी न किसी रूपसे जीवमें ही अपना फल देती हैं, जैसे, आयुका भवधारणरूप विपाक जीवमें ही होता है, क्योंकि आयुकर्मका उदय होनेपर जीवको ही भवधारण करना पड़ता है। तथा, क्षेत्रविपाकिनी आनुपूर्वी भी श्रेणिके अनुसार गमनकरने रूप जीवके स्वभावको स्थिर रखती है। तथा, पुद्गलविपाकिप्रकृतियाँ भी जीवमें ऐसी शक्ति पैदा करती हैं, जिससे वह जीव अमुकप्रकारके ही पुद्गलोंको ग्रहण करता है। तथापि, क्षेत्रविपाकिनी, भवविपाकिनी और पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियाँ क्षेत्र वगैरहकी मुख्यतासे अपना फल देती हैं, जब कि जीवविपाकिप्रकृतियाँ क्षेत्र आदिकी अपेक्षाके बिना ही जीवमें ही अपना साक्षात् फल देती हैं। जैसे, ज्ञानावरणकी प्रकृतियोंके उदयसे जीव ही अज्ञानी होता है, शरीर वगैरहमें उनका कोई फल दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी तरह दर्शनावरणकी प्रकृतियोंके उदयसे जीवके ही दर्शनगुणका घात होता है, सातवेदनीय और असातवेदनीयके उदयसे जीव ही सुखी और दुःखी होता है, मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंके उदयसे जीवके ही सम्यक्त्व और चारित्रगुणका घात होता है, पाँच अन्तरायोंके उदयसे जीव ही दान वगैरह नहीं दे या ले सकता। अतः उक्त गाथामें गिनाई गई ७८ प्रकृतियाँ जीवविपाकिनी कही जाती हैं।

चारों आयु भवविपाकिनी हैं, क्योंकि परभवकी आयुका बन्ध होजाने पर भी, जबतक जीव वर्तमान भवको त्यागकर अपने योग्य भव प्राप्त नहीं करता तबतक आयुकर्मका उदय नहीं होता, अतः आयुकर्म भवविपाकी है।

शङ्का—आयुकर्मकी तरह गतिनामकर्म भी अपने योग्य भवके प्राप्त होनेपर

---

१ "आउस्स भवविवागा गई न आउस्स परभवे जम्हा।
नो सव्वहावि उदओ गईए पुण खेत्तेणत्थि ॥१६५॥" पञ्चसं०।

ही उदयमें आता है, अतः उसे भवविपाकी क्यों नहीं कहा? उत्तर—आयुकर्म और गतिकर्मके विपाकमें बहुत अन्तर है। आयुकर्म तो जिस भवके योग्य बांधा जाता है नियमसे उसी भवमें अपना फल देता है। जैसे, मनुष्यायुका उदय मनुष्यभवमें ही हो सकता है, इतरभवमें नहीं हो सकता। अतः किसी भी भवके योग्य आयुकर्मका बन्ध होजानेके पश्चात् जीवको उस भवमें अवश्य जन्मलेना पड़ता है। किन्तु गतिकर्ममें यह बात नहीं है, विभिन्न परभवोंके योग्य बंधी हुई गतियोंका उस ही भवमें संक्रमण वगैरहके द्वारा उदय हो सकता है। जैसे, मोक्षगामी चरमशरीरी जीवके परभवके योग्य बँधी हुई गतियाँ उसी भवमें क्षय होजाती हैं। अतः गतिनामकर्म भवका नियामक नहीं है, इसलिये वह भवविपाकी नहीं है। इस प्रकार चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ द्वार समाप्त होता है।
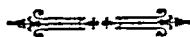
१६. पुद्गलविपाकिद्वार

अब सोलहवें द्वारमें पुद्गलविपाकिप्रकृतियोंको गिनाते हैं—

नामधुवोदय चउतणु वघायसाहारणियर जोयतिगं।
पुग्गलविवागि ....

अर्थ—नामकर्मकी ध्रुवोदयप्रकृतियाँ बारह[1], तनुचतुष्क (तीन शरीर[2], तीन उपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन), उपघात, साधारण, प्रत्येक, उद्योत आदि तीन, अर्थात् उद्योत, आतप और पराघात, ये छत्तीस प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकिनी हैं।

भावार्थ—इस गाथामें पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियोंको गिनाया है।

---

१ निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण और वर्णचतुष्क।

२ तैजस और कार्मण शरीर नामकर्मकी ध्रुवोदयप्रकृतियोंमें आजाते हैं।

(जीवके द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलों में, अपने स्वभावको न त्यागकर जीवके साथ रहनेके कालकी मर्यादाके होनेको स्थितिबन्ध कहते हैं। उन कर्मपुद्गलों में फलदेनेकी न्यूनाधिक शक्तिके होनेको रसबन्ध कहते हैं। और न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धोंका जीवके साथ सम्बन्ध होनेको प्रदेशबन्ध कहते हैं। सारांश यह है कि जीवके योग और कषायरूप भावों का निमित्त पाकर जब कार्मणवर्गणाएँ कर्मरूप परिणत होती हैं तो उनमें चार बातें होती हैं, एक उनका स्वभाव, दूसरे स्थिति, तीसरे फलदेनेकी शक्ति और चौथे अमुक परिमाणमें उनका जीवके साथ सम्बन्ध होना। इन चार बातोंको ही चारबन्ध कहते हैं। इनमेंसे स्वभाव अर्थात् प्रकृतिबन्ध और कर्मपरमाणुओंका अमुक संख्यामें जीवकेसाथ सम्बन्ध होना अर्थात् प्रदेशबन्ध तो जीवकी योगशक्तिपर निर्भर है। तथा स्थिति और फलदेनेकी शक्ति जीवके कषायभावोंपर निर्भर है। योगशक्ति तीव्र या मन्द जैसी होगी बन्धको प्राप्त कर्मपुद्गलोंका स्वभाव और परिमाण भी वैसाही तीव्र या मन्द होगा। इसी तरह जीवकी कषाय जैसी तीव्र या मन्द होगी, बन्धको प्राप्त परमाणुओं की स्थिति और फलदायक शक्ति भी वैसी ही तीव्र या मन्द होगी। जैनदर्शनमें योगशक्तिको हवा, कषायको चिपकनेवाली गोंद और कर्मपरमाणुओंको धूल की उपमा दी जाती है। जैसे हवाके चलने ही धूलिके कण उड़ उड़कर उन स्थानोंपर जा पड़ते हैं जहाँ कोई चिपकनेवाली वस्तु गोंद वगैरह लगी होती है। उसी तरह जीवकी प्रत्येक शारीरिक, मानसिक और वाचनिक क्रियाके साथ कर्मपुद्गलोंका आगमन प्रारम्भ होता है। जीवके कषायरूपी गोंदकी चिकनाहट पाकर वे जीवके साथ बंध जाते हैं। वायु तीव्र या मन्द जैसी होती है धूलि भी उसी परिमाणमें उड़ती है, तथा गोंद वगैरह जितनी चिकनी होती है धूलि भी उतनी ही चिपटकर उसके साथ बंध जाती है। इसी प्रकार योगशक्ति जितनी तीव्र होती है, उतने कर्मपरमाणुओंका आगमन [illegible]

---

१ "पयडिपएसबंधा जोगेहिं कसायओ इयरे" ॥२०४॥ पञ्चसं०।

अवक्तव्यबन्ध नहीं होता है।

भावार्थ–एक जीवके एक समयमें जितने कर्मोंका बन्ध होता है, उनके समूहको एक बन्धस्थान कहते हैं। इस बन्धस्थानका विचार दो प्रकारसे किया जाता है–एक मूल प्रकृतियों में और दूसरे उन मूलप्रकृतियों की उत्तरप्रकृतियोंमें। पहले बतला आये हैं कि मूलकर्म आठ हैं और उनकी बन्धप्रकृतियाँ एकसौ बीस हैं। इस गाथामें मूलप्रकृतियोंके ही बन्धस्थान बतलाये हैं।

साधारणतया प्रत्येक जीवके आयुकर्मके सिवाय शेष सातकर्म प्रतिसमय बंधते हैं। क्योंकि आयुकर्मका बन्ध प्रतिसमय न होकर नियत समयमें ही होता है। जब कोई जीव आयुकर्मका भी बन्ध करता है, तब उसके आठ कर्मोंका बन्ध होता है। दसवें गुणस्थानमें पहुँचनेपर आयु और मोहनीय कर्मके सिवाय शेष छह ही कर्मोंका बन्ध होता है, क्योंकि आयुकर्म सातवें गुणस्थानतक ही बंधता है और मोहनीयकर्म नवे गुणस्थानतक ही बंधता है, आगे नहीं बंधता। दसवें गुणस्थानसे आगे ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें केवल एक सातवेदनीयकर्मका ही बन्ध होता है, शेष कर्मोंके बन्धका निरोध दसवें गुणस्थानमें ही होजाता है। इस प्रकार मूलप्रकृतियोंके चार ही बन्धस्थान होते हैं–आठप्रकृतिक, सातप्रकृतिक, छह-प्रकृतिक और एकप्रकृतिक। अर्थात् कोई जीव एक समयमें आठ कर्मोंका

१ "जा अपमत्तो सत्तट्ठबन्धगा सुहुम छण्हमेगस्स।
उवसंतखीणजोगी सत्तण्हं नियट्टी-मीस-अनियट्टी ॥[illegible]॥" पञ्चसं०

अर्थात्–'अप्रमत्त गुणस्थान तक सात अथवा आठ कर्मोंका बन्ध होता है। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें छह कर्मोंका बन्ध होता है, और उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगकेवली गुणस्थानमें एक वेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है। निवृत्तिकरण, मिश्र और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें आयुके बिना सात ही कर्मोंका बन्ध होता है।'

बन्ध करता है, कोई एक समयमें सातकर्मोका बन्ध करता है, कोई एक समयमें छह कर्मोका बन्ध करता है और कोई एक समयमें केवल एक ही कर्मका बन्ध करता है। इसके सिवाय कोई भी दशा ऐसी नहीं है, जहां एक साथ दो, या तीन, या चार, अथवा पाँच कर्मोका बन्ध हो सकता हो।

इन चार बन्ध स्थानोंमें तीन भूयस्कार, तीन अल्पतर और चार अवस्थित बन्ध होते हैं। जब कोई जीव पहले समयमें कम कर्मप्रकृतियोंका बन्ध करके दूसरे समयमें उससे अधिक कर्मप्रकृतियोंका बन्ध करता है, तो उस बन्धको भूयस्कार बन्ध कहते हैं। मूलप्रकृतियोंमें इस प्रकारके बन्ध तीनही होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें एक सातवेदनीय कर्मका बन्ध करके, वहांसे गिरकर दसवें गुणस्थानमें आता है, और वहाँ छह कर्मोका बन्ध करता है। यह पहला भूयस्कार बन्ध है। वही जीव दसवें गुणस्थानसे भी च्युत होकर जब नीचेके गुणस्थानोंमें आता है और वहाँ सातकर्मोका बन्ध करता है, तब दूसरा भूयस्कार बन्ध होता है। वही जीव आयुकर्मका बन्धकाल आनेपर जब आठकर्मोका बन्ध करता है, तब तीसरा भूयस्कारबन्ध होता है। इस प्रकार एकसे छह, छहसे सात और सातसे आठका बन्ध होनेके कारण भूयस्कारबन्ध तीनही होते हैं। उक्त चार बन्धस्थानोंमें इन तीन भूयस्कार बन्धोंके सिवाय तीन अन्य भूयस्कार बन्ध हो सकनेकी संभावना की जा सकती है—एक, एकको बाँधकर सातकर्मोका बन्ध करना, दूसरा एकको बांधकर आठकर्मोका बन्ध करना और तीसरा, छहको बाँधकर आठकर्मोका बन्ध करना। इन तीन भूयस्कारबन्धोंमेंसे आदिके दो भूयस्कारबन्ध दो तरहसे हो सकते है—एक गिरनेकी अपेक्षासे, दूसरे मरनेकी अपेक्षासे। किन्तु गिरनेकी अपेक्षासे आदिके दो भूयस्कारबन्ध इसलिये नहीं हो सकते कि ग्यारहवें गुणस्थानसे जीवका पतन क्रमशः होता है। अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर जीव दसवें गुणस्थानमें आता है और दसवें गुणस्थानसे

नवें गुणस्थानमें आता है । यदि जीव ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर नवमें गुणस्थानमें या सातवें गुणस्थानमें आसकता तो एकको बाँधकर सातकर्मोंका अथवा आठकर्मोंका बन्ध करसकता था और इस प्रकार ये दो भूयस्कारबन्ध बन सकते थे । किन्तु यतः पतन क्रमशः होता है अतः ये दो भूयस्कारबन्ध पतनकी अपेक्षासे तो नहीं बन सकते । इसीप्रकार छहको बाँधकर आठकर्मों-का बन्धरूप तीसरा भूयस्कार भी नहीं बन सकता, क्योंकि छहकर्मोंका बन्ध दसवें गुणस्थानमें होता है और आठकर्मोंका बन्ध सातवें और उससे नीचे के गुणस्थानोंमें होता है । यदि जीव दसवें गुणस्थानसे गिरकर एकदम सातवें गुणस्थानमें आ सकता तो वह छहको बाँधकर आठका बन्ध कर सकता था, किन्तु पतन क्रमशः ही होता है । अर्थात् दसवें गुणस्थानसे गिरकर जीव नवमे गुणस्थानमें ही आता है । अतः तीसरा भूयस्कारबन्ध भी नहीं बन सकता । अब शेष रह जाता है आदिके दो भूयस्कारबन्धोंका मरणकी अपेक्षासे हो सकना । ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करके जीव देवगतिमें ही जन्म लेता है, ऐसा नियम है । वहाँ वह सात ही कर्मोंका बन्ध करता है, क्योंकि देवगति में छह मासकी आयु शेष रहनेपर ही आयुका बन्ध होता है । अतः मरणकी अपेक्षासे एकका बन्ध करके आठका बन्ध कर सकना सम्भव नहीं है । इसलिये यह भूयस्कार नहीं हो सकता । किन्तु एकको बाँधकर सातका बन्धरूप भूयस्कार सम्भव है । किन्तु उसके आगे **पञ्चमकर्मग्रन्थके टबेमें** इसप्रकार लिखा है—'**अहींआं कोइ पूछे जे उपशमश्रेणीयें अगीआरमें गुणठाणे आयुक्षयें मरण पामीने अनुत्तरविमानें देवता पणे उपजे, ते**

---

१ "बद्धाउ पडिवन्नो सेढिगओ वा पसंतमोहो वा ।
जइ कुणइ कोइ कालं वच्चइ तोऽणुत्तरसुरेसु ॥१३११॥" विशे० भा० ।

अर्थात्–'यदि बद्धायु जीव उपशमश्रेणि चढ़ता है, और वह श्रेणिके मध्यके किसी गुणस्थानमें अथवा ग्यारहवें गुणस्थानमें यदि मरण करता है, तो नियमसे अनुत्तरवासी देवोंमें उत्पन्न होता है ।'

में एक कर्मका बन्ध करनेपर तीसरा अल्पतरबन्ध होता है। यहां पर भी आठका बन्ध करके छह तथा एकका बन्धरूप और सातका बन्ध करके एकका बन्धरूप अल्पतर बन्ध नहीं हो सकते, क्योंकि अप्रमत्त तथा अनिवृत्तिकरण गुणस्थानसे जीव एकदम ग्यारहवें गुणस्थानमें नहीं जा सकता और न अप्रमत्तसे एकदम दसवें गुणस्थानमें ही जा सकता है। अतः अल्पतरबन्ध भी तीन ही जानने चाहियें।

पहले समयमें जितने कर्मोंका बन्ध किया है, दूसरे समयमें भी उतनेही कर्मोंका बन्ध करनेको अवस्थितबन्ध कहते हैं। अर्थात् आठको बाँधकर आठका, सातको बाँधकर सातका, छहको बाँधकर छहका, और एकको बाँधकर एकका बन्ध करनेको अवस्थितबन्ध कहते हैं। अतः बन्धस्थान चार हैं अतः अवस्थितबन्ध भी चारही होते हैं।

एक भी कर्मको न बाँधकर पुनः कर्मबन्ध करनेको अवक्तव्यबन्ध कहते हैं। यह बन्ध मूलप्रकृतियोंके बन्धस्थानोंमें नहीं होता, क्योंकि तेरहवें गुणस्थान तक तो बराबर कर्मबन्ध होता है, केवल चौदहवें गुणस्थानमें ही किसी भी कर्मका बन्ध नहीं होता। परन्तु चौदहवें गुणस्थानमें पहुँचनेके बाद जीव लौटकर नीचेके गुणस्थानोंमें नहीं आता। अतः एक भी कर्मका बन्ध न करके पुनः कर्मबन्ध करनेका अवसर ही नहीं आता। इसलिये अवक्तव्य-

---

१ पञ्चसंग्रहमें लिखा है–

"इगछाइ मूलियाणं बन्धट्ठाणा हवंति चत्तारि।
अबंधगो न बंधइ इइ अव्वत्तो अओ नत्थि ॥ २२० ॥"

अर्थात्–मूलप्रकृतियोंके एक प्रकृतिक छह प्रकृतिक वगैरह चार बन्धस्थान होते हैं। यहां एक भी मूलप्रकृतिका बन्ध न करके पुनः प्रकृति बन्ध करना संभव नहीं है अतः अवक्तव्यबन्ध नहीं होता है।

कर्मकाण्ड गा० ४५३ में मूल प्रकृतियोंके बन्धस्थान और उनके भूयस्कार, जिसे यहां भुजाकार कहा है, आदि बन्ध इसी प्रकार बतलाये हैं।

वन्ध भी नहीं होता।

अब भूयस्कार आदि बन्धोंका स्वरूप कहते हैं—

एगादहिगे भूओ[2] एगाईऊणगम्मि अप्पतरो।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ[3] पढमे समए अवत्तव्वो ॥ २२ ॥

अर्थ—एक दो आदि अधिक प्रकृतियोंके बाँधनेपर भूयस्कारबन्ध होता है, जैसे, एकको बाँधकर छहको बाँधना, छहको बाँधकर सातको बाँधना, और सातको बाँधकर आठको बाँधना भूयस्कार है। तथा, एक दो आदि हीन प्रकृतियोंका बन्ध करनेपर अल्पतर बन्ध होता है। जैसे, आठको बाँधकर सातको बाँधना, सातको बाँधकर छहको बाँधना और छहको बाँधकर एकको बाँधना अल्पतरबन्ध कहलाता है। तथा, पहले समयमें जितने कर्मोंका बन्ध किया हो आगेके समयोंमें भी उतने ही कर्मोंके बन्धकरनेको अवस्थितबन्ध कहते हैं। जैसे आठको बाँधकर आठका, सातको बाँधकर सातका, छहको बाँधकर छहका और एकको बाँधकर एकका बन्ध करना अवस्थितबन्ध है। तथा, किसी भी कर्मका बन्ध न करके पुनः कर्मबन्ध करनेपर पहले समयमें अवक्तव्यबन्ध होता है।

---

१ यह गाथा कर्मप्रकृतिके सत्ताधि० की निम्न गाथाका स्मरण कराती है।

"एगादहिगे पढमो एगाई ऊणगम्मि बिइओ ए।
तत्तियोमेत्तो तइओ पढमे समये अवत्तव्वो ॥ ५२ ॥"

इस गाथाकी टीकामें उपाध्याय यशोविजयजीने मूलकर्मोंमें भूयस्कार आदि बन्धोंका विचार किया है।

कर्मकाण्डमें भी इन बन्धोंका लक्षण इसीप्रकार है—

"अप्पं बंधंतो बहुबंधे बहुगादु अप्पबंधेवि।
उभयत्थसमे बंधे भुजगारादी कमे होंति ॥ ४६९ ॥"

२ भूओ ग. पु.। ३-यओ ग. पु.।

भावार्थ—इस गाथामें भूयस्कार आदि बन्धोंका स्वरूप बतलाया है। उनके सम्बन्धमें इतना विशेष वक्तव्य है कि भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्यबन्ध केवल पहले समयमें ही होते हैं और अवस्थितबन्ध द्वितीयादि समयोंमें होता है। जैसे, कोई जीव छह कर्मोंका बन्धकरके सातका बन्ध करता है, यह भूयस्कारबन्ध है। दूसरे समयमें यही भूयस्कार नहीं होसकता, क्योंकि प्रथम समयमें सातका बन्ध करके यदि दूसरे समयमें आठका बन्ध करता है तो भूयस्कार बदल जाता है, यदि छहका बन्ध करता है तो अल्पतर होजाता है और यदि सातका बन्ध करता है तो अवस्थितबन्ध होजाता है। सारांश यह है कि प्रकृतिसंख्यामें परिवर्तन हुए बिना अधिक बाँधकर कम बाँधना, कम बाँधकर अधिक बाँधना और कुछ भी न बाँधकर पुनः बाँधना केवल एकबार ही संभव है, जब कि उतने ही कर्म बाँधकर पुनः उतने ही कर्म बाँधना पुनः पुनः संभव है। अतः एक ही अवस्थितबन्ध लगातार कई समय तक हो सकता है, किन्तु शेष तीन बन्धोंमें यह बात नहीं है॥

मूलप्रकृतियोंमें भूयस्कार आदि बन्धोंका कथन करके, अब उत्तरप्रकृतियोंमें उन्हें बतलाते हैं—

नव छ चउ दंसे दुदु तिदु मोहे दु इगवीस सत्तरस।
तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि॥२५॥

अर्थ—दर्शनावरण कर्मके नौ प्रकृतिरूप, छह प्रकृतिरूप और चार प्रकृतिरूप, इस प्रकार तीन बन्धस्थान होते हैं। तथा उनमें दो भूयस्कार, दो

---

१ पञ्चसङ्ग्रहके सप्ततिका नामक अधिकारमें भी दर्शनावरणके तीन बन्धस्थान इसी प्रकार बतलाये हैं—

"नवछच्चउहा वज्झइ दुगट्ठदसमेण दंसणावरणं॥ १०॥"

अर्थात्—दर्शनावरणके तीन बन्धस्थान हैं। उनमेंसे पहले और दूसरे गुणस्थानमें नौप्रकृतिरूप बन्धस्थान पाया जाता है। उससे आगे आठवें गुण-

सतरहके दो भुजाकार बन्ध होते हैं। किन्तु कर्मग्रन्थमें प्रत्येक बन्धस्थानका एक एक इस प्रकार तीन ही भुजाकार बतलाये हैं। अतः शेष छह रह जाते हैं। तथा मरणकी अपेक्षासे पाँच भुजाकार ऊपर बतला आये हैं। इस प्रकार कर्मकाण्डमें ५+६=११ भुजाकार अधिक बतलाये हैं।

तथा, कर्मग्रन्थमें अल्पतरबन्ध आठ बतलाये हैं। किन्तु कर्मकाण्डमें उनकी संख्या ग्यारह बतलाई है, जो इस प्रकार है–कर्मग्रन्थमें बाईस को बाँधकर सतरहका बन्धरूप केवल एकही अल्पतर बन्ध गिनाया है किन्तु पहले गुणस्थानसे सातवें गुणस्थान तक जीव दूसरे और छठें गुणस्थानके सिवाय शेष सभी गुणस्थानोंमें जा सकता है। अतः बाईसको बांधकर सतरह, तेरह और नौ का बन्ध कर सकनेके कारण बाईसप्रकृतिक बन्धस्थानके तीन अल्पतर बन्ध होते हैं। तथा, सतरहका बन्ध करके तेरह और नौ का बन्ध कर सकनेके कारण सतरहके बन्धस्थानके दो अल्पतर बन्ध होते हैं। इस प्रकार बाईसके तीन और सतरहके दो अल्पतर बन्धोंम से कर्मग्रन्थमें केवल एक एकही अल्पतर बतलाया है। अतः तीन शेप रह जाते हैं जो कर्मग्रन्थ से कर्मकाण्डमें अधिक हैं।

भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्यबन्धके द्वितीय समयमें भी यदि उतनी ही प्रकृतियोंका बन्ध होता है, जितनी प्रकृतियोंका बन्ध पहले समयमें हुआ था, तो उसे अवस्थित बन्ध कहते हैं। अतः कर्मकाण्डमें भुजाकार, अल्पतर और अवक्तव्य बन्धोंकी संख्याके बराबरही अवस्थितबन्धकी संख्या बतलाई है। यदि दूसरे समयमें होनेवाले बन्धके ऊपरसे भूयस्कार, अल्पतर, अथवा अवक्तव्य पदोंको अलग करके उनकी वास्तविकता पर दृष्टि दी जाये तो मूल अवस्थितबन्ध उतनेही ठहरते हैं, जितने कि बन्धस्थान होते हैं। जैसे, किसी जीवने इक्कीसका बन्ध करके प्रथम समयमें बाईसका बन्ध किया और दूसरे समयमें भी बाईसका ही बन्ध किया। यहां प्रथम समयका बन्ध भूयस्कार

सतरहको बांधकर बाईसका बन्ध करने पर २×६=१२ भङ्ग होते हैं। चौथेमें बीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि सतरहका बन्ध करके इक्कीसका बन्ध होने पर २×४=८ और बाईसका बन्ध होनेपर २×६=१२, इस प्रकार १२+८= बीस भङ्ग होते हैं। पांचवेंमें चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि तेरहका बन्ध करके सतरहका बन्ध होने पर २×२=४, इक्कीसका बन्ध होने पर २×४=८ और बाईसका बन्ध होने पर २×६=१२, इस प्रकार ४+८+१२=२४ भङ्ग होते हैं। छठेमें अट्ठाईस भुजाकार होते हैं, क्योंकि नौ का बन्ध करके तेरहका बन्ध करने पर २×२=४, सतरहका बन्ध करने पर २×२=४, इक्कीसका बन्ध करने पर २×४=८ और बाईसका बन्ध करने पर २×६=१२, इस प्रकार ४+४+८+१२=२८ भङ्ग होते हैं। सातवेंमें दो भुजाकार होते हैं, क्योंकि सातवेंमें एक भङ्ग सहित नौ का बन्ध करके मरण होने पर भङ्ग सहित सतरहका बन्ध होता है। आठवें गुणस्थानमें भी सातवेंकी तरह दो भुजाकार होते हैं। नौवें गुणस्थानमें पांच, चार आदि बन्धस्थानोंमें से प्रत्येक के तीन तीन भुजाकार होते हैं, एक एक रि अपेक्षासे और दो दो मरनेकी अपेक्षा से। इस प्रकार एकसौ भुजाकार होते हैं।

पैंतालीस अल्पतर बन्ध निम्नप्रकार हैं—

"अप्पदरा पुण तीसं णभ णभ छद्दोण्णि दोण्णि णभ ए
थूले पणगादीणं एक्केक्कं अंतिमे सुण्णं॥ ४७३॥"

अर्थ—पहले गुणस्थानमें तीस अल्पतर बन्ध होते हैं, क्यों कर सतरहका बन्ध करने पर ६×२=१२, तेरहका बन्ध कर और नौ का बन्ध करने पर ६×१=६, इस प्रकार १२+१ हैं। दूसरे गुणस्थानमें एक भी अल्पतर नहीं होता, क्योंकि गुणस्थान होता है और उस अवस्थामें इक्कीसका बन

होजानेसे चारका ही बन्ध होता है। तीसरे भागमें संज्वलन क्रोधके बन्धका अभाव होजानेके कारण तीनही प्रकृतियोंका बन्ध होता है। चौथे भागमें संज्वलनमानका बन्ध न होनेसे दो प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है। पाँचवे भागमें संज्वलन मायाका भी बन्ध न होनेसे केवल एक संज्वलनलोभका ही बन्ध होता है। उसके आगे बादरकषायका अभाव होनेसे उस एक प्रकृति का भी बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार मोहनीयकर्मके दस बन्धस्थान जानने चाहियें। इन दस बन्धस्थानोंमें नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बन्ध होते हैं, जो निम्नप्रकार हैं—

एकको बाँधकर दो का बन्ध करनेपर पहला भूयस्कारबन्ध होता है। दो को बाँधकर तीनका बन्ध करने पर दूसरा भूयस्कार होता है। इसी प्रकार तीनको बाँधकर चारका बन्ध करनेपर तीसरा, चारको बाँधकर पाँचका बन्ध करनेपर चौथा, पाँचका बन्ध करके नौका बन्ध करनेपर पाँचवां, नौका बन्ध करके तेरहका बन्ध करनेपर छठा, तेरहका बन्ध करके सतरहका बन्ध करने पर सातवाँ, सतरहका बन्ध करके इक्कीसका बन्ध करनेपर आठवाँ, और इक्कीसका बन्ध करके बाईसका बन्ध करनेपर नौवाँ भूयस्कारबन्ध होता है।

आठ अल्पतर बन्ध इस प्रकार हैं—बाईसका बन्ध करके सतरहका बन्ध करनेपर पहला अल्पतर होता है। सतरहका बन्ध करके तेरहका बन्ध करने पर दूसरा अल्पतर होता है। इसीप्रकार तेरहका बन्धकरके नौ का बन्ध करनेपर तीसरा, नौ का बन्ध करके पाँचका बन्ध करनेपर चौथा, पाँचका बन्ध करके चारका बन्ध करनेपर पाँचवां, चारका बन्धकरके तीनका बन्ध करने पर छठा, तीनका बन्ध करके दोका बन्ध करनेपर सातवाँ और दो का बन्ध करके एकका बन्ध करनेपर आठवाँ अल्पतरबन्ध होता है। यहाँ बाईसका बन्ध करके इक्कीसका बन्धरूप अल्पतरबन्ध नहीं बतलाया है, क्योंकि बाईस का बन्ध पहले गुणस्थानमें होता है और इक्कीसका बन्ध दूसरे गुणस्थानमें, अतः यदि जीव पहले गुणस्थानसे दूसरे गुणस्थानमें जा सकता तो यह अल्प-

ईस प्रकृतिरूप, उनतीस प्रकृतिरूप, तीस प्रकृतिरूप, इकतीस प्रकृतिरूप और एक प्रकृतिरूप, इसप्रकार नामकर्मके आठ बन्धस्थान होते हैं। और उनमें छह भूयस्कारबन्ध, सात अल्पतरबन्ध, आठ अवस्थित बन्ध और तीन अवक्तव्यबन्ध होते हैं। दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके सिवाय शेष पाँच कर्मोंमें एक एकही बन्धस्थान होता है।

भावार्थ—इस गाथामें नामकर्मके बन्धस्थानोंको गिनाकर उनमें भूयस्कार आदि बन्धोंकी संख्या बतलाई है। जिसका खुलासा निम्नप्रकार है—

नामकर्मकी समस्त बन्धप्रकृतियाँ ६७ हैं, किन्तु उनमेंसे एक समयमें एक जीवके तेईस, पच्चीस आदि प्रकृतियाँ ही बन्धको प्राप्त होती हैं, अतः नामकर्मके बन्धस्थान आठ ही होते हैं। अबतक जिन कर्मोंके बन्धस्थान बतला आये हैं, वे कर्म जीवविपाकी हैं—जीवके आत्मिकगुणों पर ही उनका असर पड़ता है। किन्तु नामकर्मका बहुभाग पुद्गलविपाकी है, उसका अधिकतर उपयोग जीवोंकी शारीरिक रचनामें ही होता है, अतः भिन्न भिन्न जीवों की अपेक्षासे एकही बन्धस्थानकी अवान्तर प्रकृतियोंमें अन्तर पड़ जाता है।

वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात, नामकर्मकी ये नौ प्रकृतियां ध्रुवबन्धिनी हैं, चारों गतिके सभी जीवोंके आठवें गुणस्थानतक इनका बन्ध अवश्य होता है। इन प्रकृतियोंके साथ तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, हुंडक संस्थान, स्थावर, बादर और सूक्ष्ममेंसे एक तथा प्रत्येक और साधारणमेंसे एक, अपर्याप्त अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, और अयशःकीर्ति, इन चौदह प्रकृतियों के मिलानेसे तेईस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यह स्थान एकेन्द्रिय अपर्याप्त सहित बंधता है, अर्थात् इस स्थानका बन्धक जीव मरकर एकेन्द्रिय अपर्याप्त कायमें ही जन्म लेता है। इन तेईस प्रकृतियोंमें से अपर्याप्त प्रकृतिको कमकरके, पर्याप्त, उच्छ्वास, और पराघात प्रकृतियोंके मिलाने से एकेन्द्रियपर्याप्त सहित पच्चीसका स्थान होता है। उनमेंसे स्थावर,

पर्याप्त, एकेन्द्रियजाति, उद्योत और परघातको घटाकर, त्रस,अपर्याप्त, द्वीन्द्रियजाति, सेवार्तसंहनन और औदारिक अङ्गोपाङ्गके मिलानेसे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पच्चीसका बन्धस्थान होता है। उसमें द्वीन्द्रिय जातिके स्थानमें त्रीन्द्रिय जातिके मिलानेसे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पच्चीसका स्थान होता है। इसीप्रकार त्रीन्द्रियजातिके स्थानमें चतुरिन्द्रिय जाति और चतुरिन्द्रियजातिके स्थानमें पञ्चेन्द्रिय जातिके मिलानेसे चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त सहित पच्चीसका स्थान होता है। तथा इसमें तिर्यञ्चगतिके स्थानमें मनुष्यगतिके मिलानेसे मनुष्य अपर्याप्तयुत पच्चीसका स्थान होता है। इस प्रकार पच्चीसप्रकृतिक बन्धस्थान छह प्रकारका होता है और उसके बांधनेवाले जीव एकेन्द्रिय पर्याप्तकोंमें और द्वीन्द्रियको आदि लेकर सभी अपर्याप्तक तिर्यञ्च और मनुष्योंमें जन्म ले सकते हैं।

मनुष्यगतिसहित पच्चीसप्रकृतिक बन्धस्थानमें से त्रस, अपर्याप्त, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, सेवार्तसंहनन, और औदारिकअङ्गोपाङ्गको घटाकर, स्थावर, पर्याप्त, तिर्यग्गति, एकेन्द्रियजाति, उच्छ्वास, परघात, और आतप तथा उद्योतमें से किसी एकके मिलानेसे एकेन्द्रियपर्याप्तयुत छब्बीसका स्थान होता है। इस स्थानका बन्धक जीव एकेन्द्रियपर्याप्तक पर्यायमें जन्म लेता है।

नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिरमें से एक, शुभ और अशुभमें से एक, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमें से एक, देवगति, पञ्चेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, समचतुरस्र संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रियअङ्गोपाङ्ग, सुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास और पराघात, इन अट्ठाईस देवगतिसहित अट्ठाईसका बन्धस्थान होता है। इस स्थानका बन्धक [illegible] होता है। तथा, नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, नरकगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, वैक्रियशरीर, हुण्ड संस्थान, नरकानुपूर्वी,

वैक्रियअङ्गोपाङ्ग, दुःस्वर, अप्रशंस्तविहायोगति, उच्छ्वास, और पराघात, इन प्रकृतिरूप नरकगतियोग्य अट्ठाईसका बन्धस्थान होता है।

नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ अथवा अशुभ, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति अथवा अयशःकीर्ति, तिर्यञ्चगति, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, हुंडकसंस्थान, तिर्यगानुपूर्वी, सेवार्तसंहनन, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, दुःस्वर, अप्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, पराघात, इन प्रकृतिरूप द्वीन्द्रियपर्याप्तयुत उनतीसका बन्धस्थान होता है। इसमें द्वीन्द्रियके स्थानमें त्रीन्द्रियजातिके मिलानेसे त्रीन्द्रियपर्याप्तयुत उनतीसका स्थान होता है। त्रीन्द्रियजातिके स्थानमें चतुरिन्द्रियजातिके मिलनेसे चतुरिन्द्रियजातियुत उनतीसका बन्धस्थान होता है। चतुरिन्द्रियजातिके स्थानमें पञ्चेन्द्रियजातिके मिलानेसे, पञ्चेन्द्रिययुत उनतीसका बन्धस्थान होता है। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि सुभग और दुर्भग, आदेय और अनादेय, सुस्वर और दुस्वर, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, इन युगलोंमेंसे एक एक प्रकृति बंधती है। तथा, छह संस्थानों और छह संहननोंमें से किसी भी एक संस्थान और एक संहननका बन्ध होता है। इसमें तिर्यग्गति और तिर्यगानुपूर्वीको घटाकर मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वीके मिलनेसे पर्याप्तमनुष्यसहित उनतीसका बन्धस्थान होता है। नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ या अशुभ, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति या अयशःकीर्ति, देवगति, पञ्चेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, प्रथम संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वास, पराघात, तीर्थङ्कर, इन प्रकृतिरूप देवगति और तीर्थङ्कर सहित उनतीसका बन्धस्थान होता है। इसप्रकार उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थान छह होते हैं, इन स्थानोंका बन्धक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमें तथा मनुष्यगति और देवगतिमें जन्म लेता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तयुत उनतीसके

तिर्यञ्च या मनुष्य तिर्यग्गतिके योग्य पूर्वोक्त उनतीस प्रकृतियोंका बन्ध करके, विशुद्ध परिणामोंके कारण देवगतिके योग्य अट्ठाईसका बन्ध करता है, तब चौथा अल्पतरबन्ध होता है। अट्ठाईसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करके, संक्लेश परिणामोंके कारण जब कोई जीव एकेन्द्रियके योग्य छब्बीस प्रकृतियोंका बन्ध करता है, तब पांचवाँ अल्पतरबन्ध होता है। छब्बीसका बन्ध करके पच्चीसका बन्ध करने पर छठा अल्पतरबन्ध होता है। तथा, पच्चीसका बन्ध करके तेईसका बन्ध करने पर सातवाँ अल्पतरबन्ध होता है। इसप्रकार सात अल्पतरबन्ध होते हैं। तथा, आठ बन्धस्थानोंकी अपेक्षासे आठही अवस्थितबन्ध होते हैं।

ग्यारहवें गुणस्थानमें नामकर्मकी एक भी प्रकृतिको न बांधकर, वहाँ से च्युत होकर, जब कोई जीव एक प्रकृतिका बन्ध करता है तो पहला अवक्तव्य बन्ध होता है। तथा, ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करके कोई जीव अनुत्तरोंमें जन्म लेकर यदि मनुष्यगतिके योग्य तीसका बन्ध करता है तो दूसरा अवक्तव्यबन्ध होता है। और यदि मनुष्यगतिके योग्य उनतीसका बन्ध करता है तो तीसरा अवक्तव्यबन्ध होता है। इसप्रकार तीन अवक्तव्यबन्ध होते हैं।

इसप्रकार उक्त गाथाके तीन चरणोंके द्वारा नामकर्मके बन्धस्थानों

---

१ कर्मकाण्डमें गा० ५६५से ५८२ तक नामकर्मके भूयस्कार आदि बन्धोंकी विस्तारसे चर्चाकी है। उसमें गुणस्थानोंकी अपेक्षासे भूयस्कार आदि बन्ध बतलाये हैं। और जितने प्रकृतिक स्थानको बांधकर जितने प्रकृतिक स्थानोंका बन्ध संभव है, तथा उन उन स्थानोंके जितने भङ्ग हो सकते हैं, उन सबकी अपेक्षासे भूयस्कार आदिको बतलाया है, जैसा कि मोहनीय कर्ममें बतला आये हैं। किन्तु उसमें दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके सिवाय शेष पांच कर्मोंमें अवस्थित और अवक्तव्यबन्धोंको नहीं बतलाया है।

और उनमें भूयस्कार आदि बन्धोंका निर्देश करके शेषकर्मोंके बन्धस्थानोंको बतलाते हुए ग्रन्थकारने लिखा है कि दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके सिवाय शेष पाँच कर्मोंमें एक एकही बन्धस्थान होता है। क्योंकि ज्ञानावरण और अन्तरायकी पाँचों प्रकृतियां एक साथ ही बंधती हैं और एक साथ ही रुकती हैं। तथा, वेदनीयकर्म, आयुकर्म और गोत्रकर्मकी उत्तरप्रकृतियोंमें से भी एक समयमें एक एक प्रकृतिका ही बन्ध होता है। इसीसे इन कर्मोंमें भूयस्कार आदि बन्ध नहीं होते हैं, क्योंकि जहां एकही प्रकृतिका बन्ध होता है, वहाँ थोड़ी प्रकृतियोंको बाँधकर अधिकको बाँधना अथवा अधिकको बाँधकर कमका बाँधना कैसे संभव हो सकता है ? किन्तु वेदनीयके सिवाय शेष चारकर्मोंमें अवक्तव्यबन्ध और अवस्थितबन्ध होते हैं। क्योंकि, ग्यारहवें गुणस्थानमें ज्ञानावरण, अन्तराय और गोत्र कर्मका बन्ध न करके जब कोई जीव वहाँसे च्युत होता है और नीचेके गुणस्थानमें आकर पुनः उन कर्मोंका बन्ध करता है, तब प्रथम समयमें अवक्तव्यबन्ध होता है और द्वितीय आदि समयोंमें अवस्थितबन्ध होता है। तथा त्रिभाग में जब आयुकर्मका बन्ध होता है, तब प्रथमसमयमें अवक्तव्यबन्ध होता है और द्वितीय आदि समयोंमें अवस्थित बन्ध होता है। किन्तु वेदनीयकर्ममें केवल अवस्थित ही बन्ध होता है, अवक्तव्यबन्ध नहीं होता, क्योंकि वेदनीय कर्मका अबन्ध अयोगकेवली गुणस्थानमें होता है, किन्तु वहांसे गिरकर जीव नीचे नहीं आता, अतः उसका पुनः बन्ध नहीं होता।

---

१८. स्थितिबन्धद्वार

प्रकृतिबन्धका वर्णन करके अब स्थितिबन्धका वर्णन करते हैं। सबसे
यन मूलकर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं—

वीसयरकोडिकोडी नामे गोए य सत्तरी मोहे।
तीसियर चउसु उदही निरयसुराउंमि तित्तीसा ॥२६॥

अर्थ—नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटिकोटि सागरप्रमाण है। मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागरप्रमाण है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्मकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटिकोटि सागरप्रमाण है। नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर प्रमाण है।

भावार्थ—इस गाथासे बन्धके दूसरे भेद स्थितिबन्धका कथन प्रारम्भ होता है। बन्ध होजाने पर जो कर्म जितने समय तक आत्माके साथ ठहरा रहता है, वह उसका स्थितिकाल कहलाता है। बंधनेवाले कर्मोंमें इस स्थिति-कालकी मर्यादाके पड़नेको ही स्थितिबन्ध कहते हैं। स्थिति दो प्रकारकी होती है—एक उत्कृष्टस्थिति और दूसरी जघन्यस्थिति। इस गाथामें मूल-प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। यह स्थिति इतनी अधिक है कि संख्या-
प्रमाणके द्वारा उसका बतलाना असम्भव है अतः उसे उपमाप्रमाण-
द्वारा बतलाया गया है। उपमाप्रमाणका ही एक भेद सागरोपम है और

---

१ प्रकृतिबन्धका निरूपण करनेके पश्चात् उसके स्वामी का वर्णन क-
चाहिये था। किन्तु लघुकर्मस्तवकी टीकामें तथा बन्धस्वामित्वकी टी-
उसका विस्तारसे वर्णन किया है, अतः उसे वहींसे जान लेना चाहिये।
इस कर्मग्रन्थकी स्वोपज्ञ टीकामें लिखा है। देखो, पृ० २६।

२—सिप० टा० पृ० ।

३ सागरोपमके स्वरूपको जानने लिये ८५वीं गाथा देखें।

एक करोड़ को एक करोड़से गुणा करनेपर जो महाराशि आती है उसे एक कोटिकोटि कहते हैं। इन कोटिकोटि सागरोंमें कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। आठकर्मोंमें केवल एक आयुकर्म ही ऐसा है जिसकी स्थिति कोटिकोटि सागरोंमें नहीं होती। यद्यपि गाथामें मूलकर्मोंकी ही उत्कृष्टस्थिति बतलाई है, किन्तु आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति न बतलाकर उसके दो भेदों नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है। इसका कारण यह है कि मूल आयुकर्मकी जो उत्कृष्टस्थिति है, वही स्थिति नरकायु और देवायुकी भी है, अतः ग्रन्थगौरवके भयसे मूल आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थितिको अलग न बतलाकर उसकी दो उत्तर प्रकृतियोंके द्वारा ही उसकी भी स्थिति बतला दी गई है। कर्मोंकी इस सुदीर्घ स्थितिसे यह स्पष्ट है कि एक भवका बाँधा हुआ कर्म अनेक भवोंतक बना रह सकता है।

अब मूलकर्मोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं—

मुत्तुं अकसायठिइं बार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए।
अट्ठ ट्ठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्तंतो ॥ २७ ॥

अर्थ—अकषाय जीवोंकी स्थिति को छोड़कर, वेदनीय कर्मकी बारह

---

१ इतर दर्शनोंमें कर्मों की स्थिति तो देखनेमें नहीं आई, किन्तु कर्मके दो भेद किये हैं—एक वह कर्म जो उसी भवमें फल देता है, दूसरा वह जो आगामी भवोंमें फल देता है। यथा- "सुखवेदनीयादि कर्म द्विविधं, नियतमनियतञ्च। त्रिधा नियतम्—दृष्टधर्मवेदनीयम्, उपपद्यवेदनीयम्, अपरपर्यायवेदनीयम्।" अभि० व्या० पृ० १०३। "क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।" योगद० २-१२।

२ पञ्चसङ्ग्रहमें भी लिखा है—

"मोत्तुमकसाइ तणुयी ठिइ वेयणियस्स बारस मुहुत्ता।
अट्ठ नामगोयाण, सेसयाणं मुहुत्तंतो ॥ २३९ ॥"

मुहूर्त, नाम और गोत्रकर्मकी आठ मुहूर्त तथा शेष पांच कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति होती है।

भावार्थ—स्थितिबन्धका मुख्यकारण कषाय है, और कषायका उदय दसवें गुणस्थान तक ही होता है। अतः दसवें गुणस्थान तकके जीव सकषाय और उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली तथा अयोगकेवली अकषाय कहे जाते हैं। आठ कर्मोंमेंसे एक वेदनीय कर्म ही ऐसा है जो अकषाय जीवोंके भी बंधता है, शेष सातकर्म केवल सकषाय जीवोंके ही बंधते हैं। यतः स्थितिबन्धका कारण कषाय है, अतः अकषाय जीवोंके जो वेदनीय कर्म बंधता है, उसकी केवल दो ही समयकी स्थिति होती है, पहले समयमें उसका बन्ध होता है और दूसरे समयमें उसका वेदन होकर निर्जरा हो जाती है। इसीलिये ग्रन्थकारने 'मुत्तुं अकसायठिइं' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहांपर वेदनीयकी जो स्थिति बतलाई गई है, वह सकषाय वेदनीयकी ही बतलाई गई है, अकषाय वेदनीयकी नहीं बतलाई गई है॥

मूलप्रकृतियोंकी स्थितिको बतलाकर, अब उत्तरप्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाते हैं—

विग्घावरणअसाए तीसं अट्ठार सुहुमविगलतिगे।
पढमागिइसंघयणे दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥ २८ ॥

अर्थ—पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असाता वेदनीयकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। सूक्ष्मत्रिक अर्थात् सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण नामकर्मकी, तथा विकलत्रिक अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति अट्ठारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। तथा, प्रथम संस्थान और प्रथम संहननकी उत्कृष्ट स्थिति दस दस कोटिकोटि सागर है और आगेके प्रत्येक संस्थान और प्रत्येक संहननकी स्थितिमें दो दो सागरकी वृद्धि होती जाती है। अर्थात्

[१]वसिं कोडाकोडी एवइयाबाह वाससया ॥ ३२ ॥

अर्थ—भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग, तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, औदारिकशरीर, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नीचगोत्र, तैजसशरीर आदि पाँच, अर्थात् तैजस शरीर, कार्मणशरीर, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात, अस्थिर आदि छह, अर्थात् अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, और अयशःकीर्ति, त्रसचतुष्क—त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक, स्थावर, एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, नपुंसकवेद, अप्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वासचतुष्क अर्थात् उच्छ्वास, उद्योत, आतप और पराघात, गुरु, कठोर, रूक्ष, शीत, दुर्गन्ध, इन बयालीस प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। जिस कर्मकी जितने कोटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति बतलाई है, उस कर्मकी उतने ही सौ वर्ष प्रमाण अबाधा जाननी चाहिये।

भावार्थ—उत्तर प्रकृतियोंमें उत्कृष्टस्थिति बन्धका निरूपण करते हुए, उक्तगाथाके अन्तमें उनकी अबाधाकालका प्रमाण भी बतला दिया है। बंधनेके बाद जबतक कर्म उदयमें नहीं आता, तब तकका काल अबाधाकाल[२] कहा जाता है। कर्मोंकी उपमा मादक द्रव्यसे दी जाती है। मदिराके समान आत्मापर असर डालनेवाले कर्मकी जितनीही अधिक स्थिति होती है उतने ही अधिक समय तक वह कर्म बंधनेके बाद विना फल दिये ही आत्मामें पड़ा रहता है। उसे ही अबाधाकाल कहते हैं। उस कालमें ही कर्म विपाकके उन्मुख होता है और अबाधाकाल बीतनेपर अपना फल देना शुरु कर देता है। इसीसे ग्रन्थकारने कर्मोंका अबाधाकाल उनकी स्थितिके

---

१ पञ्चसंग्रहमें भी लिखा है—

"दस सेसाणं वीसा एवइयाबाह वाससया ॥ २४३ ॥"

२ दिगम्बर परम्परामें इसे 'आबाधा' कहते हैं।

अनुपातसे बतलाते हुए कहा है कि जिस कर्मकी जितने कोटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति होती है, उस कर्मकी उतने ही सौ वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट अबाधा होती है। इसका आशय यह है कि एक कोटिकोटि सागरकी स्थितिमें सौ वर्षका अबाधाकाल होता है। अर्थात् आज एक कोटिकोटि सागरकी स्थिति को लेकर जो कर्म बांधा है, वह आजसे सौ वर्षके बाद उदयमें आवेगा और तबतक उदयमें आता रहेगा जबतक एक कोटिकोटि सागर प्रमाणकाल समाप्त न होगा। कहनेका सारांश यह है कि ऊपर कर्मोंकी जो उत्कृष्टस्थिति बतलाई है तथा आगे भी बतलावेंगे उस स्थितिमें अबाधाकाल भी सम्मिलित है। इसीसे शास्त्रकारोंने स्थितिके दो भेद किये हैं—एक कर्मरूपतावस्थान-लक्षणा स्थिति अर्थात् बंधनेके बाद जबतक कर्म आत्माके साथ ठहरता है, उतने कालका परिमाण, और दूसरी अनुभवयोग्या स्थिति अर्थात् अबाधाकाल-रहित स्थिति। यहां पहली ही स्थिति बतलाई गई है। दूसरी स्थिति जाननेके लिये पहली स्थितिमेंसे अबाधाकाल कमकर देना चाहिये। जो इस प्रकार है—

[1] पांच अन्तराय, पांच ज्ञानावरण, असातवेदनीय और नौ दर्शनावरण कर्मोंमें से प्रत्येक कर्मकी स्थिति तीस कोटिकोटि सागर है और एक कोटिकोटि सागर की स्थितिमें एकसौ वर्ष अबाधाकाल होता है, अतः उनका अबाधाकाल ३०×१००=तीन हजार वर्ष जानना चाहिये। इसी अनुपातके अनुसार सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिकका अबाधाकाल अट्ठारहसौ वर्ष, समचतुरस्र-संस्थान और वज्रऋषभनाराचसंहननका अबाधाकाल एक हजार वर्ष, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान और ऋषभनाराचसंहननका अबाधाकाल बारह सौ वर्ष, स्वातिसंस्थान और नाराचका अबाधाकाल चौदहसौ वर्ष, कुब्ज-

---

१ "इह द्विधा स्थितिः—कर्मरूपतावस्थानलक्षणा, अनुभवयोग्या च। तत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणामेव स्थितिमधिकृत्य जघन्योत्कृष्टप्रमाणमिदमवगन्तव्यम्। अनुभवयोग्या पुनरबाधाकालहीना।" कर्मप्र० मलय० टी० पृ० १६३।

संस्थान और अर्धनाराचका अबाधाकाल सोलह सौ वर्ष, वामनसंस्थान और कीलकसंहननका अबाधाकाल अट्ठारह सौ वर्ष, हुंडसंस्थान और सेवार्तसंहननका दो हजार वर्ष, सोलह कषायोंका चार हजार वर्ष, मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण, सुगन्ध, श्वेतवर्ण और मधुर रसका एक हजार वर्ष, हरितवर्ण और आम्लरसका साढ़े बारहसौ वर्ष, लालवर्ण और कषायरसका पन्द्रह सौ वर्ष, नीलवर्ण और कटुकरसका साढ़े सतरहसौ वर्ष, कृष्णवर्ण और तिक्तरसका दो हजार वर्ष, प्रशस्त विहायोगति, उच्चगोत्र, सुरद्विक, स्थिरषट्क, पुरुषवेद, हास्य और रतिका एक हजार वर्ष, मिथ्यात्वका सात हजार वर्ष, मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद और सातवेदनीयका पन्द्रहसौ वर्ष, भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, वैक्रियद्विक, तिर्यग्द्विक, औदारिकद्विक, नरकद्विक, नीचगोत्र, तैजसपञ्चक, अस्थिरषट्क, त्रसचतुष्क, स्थावर, एकेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, नपुंसकवेद, अप्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वासचतुष्क, गुरु, कर्कश, रूक्ष, शीत और दुर्गन्ध का अबाधाकाल दो हजार वर्ष जानना चाहिये ।।

गुरु कोडिकोडिअंतो तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
लहुठिइ संखगुणूणा नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥३३॥

अर्थ—तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी उत्कृष्ट स्थिति अन्तः कोटीकोटी सागर है, और अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है । तथा, उनकी जघन्यस्थिति संख्यातगुणी हीन है । अर्थात् तीर्थंकरनाम और आहारकद्विककी जितनी उत्कृष्टस्थिति है, संख्यातगुणी हीन वही स्थिति उनकी जघन्यस्थिति जाननी चाहिये । मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य है ।

भावार्थ—इस गाथाके तीन चरणोंमें तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकद्विककी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा अबाधा बतलाई है । यद्यपि अभी जघन्यस्थिति बतलानेका प्रकरण नहीं आया था, तथापि ग्रन्थगौरवके भयसे इन तीनों प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति भी बतलादी है । इन तीनों प्रकृतियों-

में शरीरके साथ साथ उसके सब भेद प्रभेदोंको भी गिनाकर उन सबकी वही स्थिति बतलाई है, जो मूल शरीर नामकर्मकी स्थिति है।

शंका—यदि तीर्थङ्करनाम कर्मकी जघन्यस्थिति भी अन्तःकोटीकोटी सागर है, तो तीर्थङ्कर प्रकृतिकी सत्तावाला जीव तिर्यञ्चगतिमें जाये बिना नहीं रह सकता[1], क्योंकि तिर्यञ्चगतिमें भ्रमण किये बिना इतनी लम्बी स्थिति पूर्ण नहीं हो सकती। किन्तु तिर्यञ्चगतिमें जीवोंके तीर्थङ्करनाम कर्मकी सत्ता का निषेध किया है अतः इतना काल कहां पूर्ण करेगा ? तथा, तीर्थङ्करके भवसे पूर्वके तीसरे भवमें तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध होना बतलाया है[2]। अन्तः-कोटीकोटी सागरकी स्थितिमें यह भी कैसे बन सकता है[3] ?

---

१ पञ्चसङ्ग्रह (गा०८०) और सर्वार्थसिद्धिमें (पृ०३८) पञ्चेन्द्रियपर्यायका काल कुछ अधिक एक हजार सागर और त्रसकायका काल कुछ अधिक दो हजार सागर बतलाया है। इससे अधिक समय तक न कोई जीव लगातार पञ्चेन्द्रिय पर्यायमें जन्म ले सकता है और न लगातार त्रस ही हो सकता है। अतः अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिका बन्ध करके जीव इतने कालको केवल नारक, मनुष्य और देव पर्यायमें ही जन्म लेकर पूरा नहीं कर सकता। उसे तिर्यञ्चगतिमें जरूर जाना पड़ेगा।

२ "जं, बज्झई तं तु भगवओ तइयभवोसक्कइत्ताणं ॥ १८० ॥"
आव० नि०।

३ पञ्चसंग्रह में तीर्थङ्कर प्रकृतिकी स्थिति बतलाते हुए लिखा है–

"अंतो कोडीकोडी तित्थयराहार तीए संखाओ।
तेतीस पलिय संखं निकाइयाणं तु उक्कोसा ॥२४९॥
अंतो कोडीकोडी, ठिइएवि कहं न होइ तित्थयरे।
संते कित्तियकालं तिरिओ अह होइ उ विरोहो ॥२५०॥
जमिह निकाइयतित्थं तिरियभवे तं निसेहियं संतं।
इयरंमि नत्थि दोसो उव्वट्टणुवट्टणासज्झे ॥ २५१ ॥"

उत्तर—तिर्यञ्च गतिमें जो तीर्थङ्कर नामकर्मकी सत्ताका निषेध किया है वह निकाचित तीर्थङ्कर नामकर्मकी अपेक्षासे किया है। अर्थात् जो तीर्थङ्कर नामकर्म अवश्य अनुभवमें आता है, उसीका तिर्यञ्चगतिमें अभाव बतलाया है। किन्तु जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है उस तीर्थङ्करप्रकृतिके अस्तित्वका निषेध तिर्यञ्चगतिमें नहीं किया है। इसी प्रकार

अर्थात्–तीर्थङ्कर और आहारकद्विक की उत्कृष्टस्थिति अन्तःकोटिकोटि सागर प्रमाण है। यह स्थिति अनिकाचित तीर्थङ्कर और आहारकद्विक की बतलाई है। निकाचित तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विक की स्थिति तो अन्तः कोटिकोटि सागरके संख्यातवें भाग से लेकर तीर्थङ्करकी तो कुछ कम दो पूर्व-कोटि अधिक तेतीस सागर है और आहारकद्विक की पल्यके असंख्यातवें भाग है। शङ्का–अन्तः कोटिकोटि सागरकी स्थितिवाले तीर्थङ्कर नामकर्मके रहते हुए भी जीव कबतक तिर्यञ्च न होगा? यदि होगा तो आगमविरोध आता है। उत्तर–जो निकाचित तीर्थङ्कर कर्म है, आगम में, तिर्यग्गति में उसीकी सत्ताका निषेध किया है। जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है उस अनिकाचित तीर्थङ्कर नामकर्मके तिर्यग्गति में रहनेपर भी कोई दोष नहीं है।

१ श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपनी विशेषणवतीमें इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

"कोडाकोडी अयरोवमाण तित्थयरणामकम्मठिई।
वज्झई य तयणंतरभवम्मि तइयम्मि निद्दिट्ठं ॥ ७८ ॥
तट्ठिइमोसक्केउं तइयभवो अहव जीवसंसारो।
तित्थयरभवाओ वा ओसक्केउं भवे तइए ॥ ७९ ॥
जं वज्झइत्ति भणियं तत्थ निकाइज्ज इत्ति णियमोयं।
तदवंझफलं नियमा भयणा अणिकाइआवत्थे ॥ ८० ॥"

अर्थात्–तीर्थङ्कर नामकर्मकी स्थिति कोटिकोटिसागर प्रमाण है, और तीर्थङ्करके भवसे पहलेके तीसरे भवमें उसका बन्ध होता है। इसका आशय

तीर्थङ्करके भवसे पूर्वके तीसरे भवमें ही तीर्थङ्करप्रकृतिके बन्धका काल है यह भी निकाचित तीर्थङ्करप्रकृतिकी अपेक्षासे ही है। जो तीर्थङ्कर प्रकृति निकाचित नहीं है, अर्थात् जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है वह तीन भवसे भी पहले बंध सकती है।

नरकायु और देवायुकी उत्कृष्टस्थिति पहले बतला आये हैं, यहाँ मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई है॥

इगविगलपुव्वकोडिं पलियासंखंस आउचउ अमणा।
निरुवकमाण छमासा अबाह सेसाण भवतंसो॥ ३४॥

अर्थ—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति एक

यह है कि तीसरे भवमें उद्वर्तन-अपवर्तनके द्वारा उस स्थितिको तीन भवोंके योग्य करलिया जाता है। अर्थात् तीन भवोंमें तो कोटिकोटि सागर की स्थिति पूर्ण नहीं होसकती, अतः अपवर्तनकरणके द्वारा उस स्थितिका ह्रास करदिया जाता है। शास्त्रकारोंने तीसरे भवमें जो तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धका विधान किया है, वह निकाचित तीर्थङ्कर प्रकृतिके लिये है, निकाचित प्रकृति अपना फल अवश्य देती है। किन्तु अनिकाचित तीर्थङ्कर प्रकृतिके लिये कोई नियम नहीं है, वह तीसरे भवसे पहले भी बंध सकती है।

१ जिस प्रकृति में कोई भी करण नहीं लग सकता, उसे निकाचित कहते हैं। स्थिति और अनुभाग के बढ़ाने को उद्वर्तन कहते हैं, और स्थिति और अनुभागके कमकरने को अपवर्तन कहते हैं। करणोंका स्वरूप जानने के लिये देखो-कर्मप्रकृति गा० २, और पञ्चसंग्रह गा० १ (बन्धनकरण) की टीकाएँ तथा कर्मकाण्ड-गा० ४३७–४४०।

२ पूर्वका प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—

"पुव्वस्स उ परिमाणं सयरी खलु होंति सयसहस्साइं।
छप्पणं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं॥ ६३॥" ज्योतिष्क०

पूर्वकोटिप्रमाण बांधते हैं। असंज्ञी पर्याप्तक जीव चारों ही आयुकर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण बांधते हैं। निरुपक्रम आयु-वाले, अर्थात् जिनकी आयुका अनवर्तनघात नहीं होता, ऐसे देव, नारक और भोगभूमिज मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंके आयुकर्मकी अबाधा छह मास होती है। तथा, शेष मनुष्य और तिर्यञ्चोंके आयुकर्मकी आबाधा अपनी अपनी आयुके तीसरे भाग प्रमाण होती है।

भावार्थ—उक्त गाथाओंके द्वारा कर्मप्रकृतियोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, उसका बन्ध केवल पर्याप्तक संज्ञी जीव ही कर सकते हैं। अतः वह स्थिति पर्याप्तक संज्ञी जीवोंकी अपेक्षासे ही बतलाई गई है। शेष जीव उस स्थितिमें से कितनी कितनी स्थिति बांधते हैं, इसका निर्देश आगे करेंगे। यहां केवल आयुकर्मकी अपेक्षासे यह बतलाया है कि एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञी जीव आयुकर्मकी पूर्वोक्त उत्कृष्टस्थितिमें से कितना स्थितिबन्ध करते हैं? तथा उसकी कितनी अबाधा होती है?

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव मरण करके तिर्यञ्चगति या मनुष्य-

---

अर्थात्—७० लाख, ५६ हजार करोड़ वर्षका एक पूर्व होता है। यह गाथा सर्वार्थसिद्धि पृ० १२८ में भी पाई जाती है।

१ कर्मकाण्ड गा० ५३८-५४३ में, किस गतिके जीव मरण करके किस किस गतिमें जन्म लेते हैं, इसका खुलासा किया है। तिर्यञ्चोंके सम्बन्ध में लिखा है—

"तेउदुगं तेरिच्छे सेसेगअपुण्णवियलगा य तहा।
तित्थूणणरेवि तहाऽसण्णी घम्मे य देवदुगे ॥ ५४० ॥"

अर्थात्—तैजस्कायिक और वायुकायिक जीव मरण करके तिर्यञ्चगतिमें ही जन्म लेते हैं। शेष एकेन्द्रिय, अपर्याप्त और विकलत्रय जीव तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमें जन्म लेते हैं, किन्तु तीर्थङ्कर वगैरह नहीं हो सकते। तथा, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव पूर्वोक्त तिर्यञ्च और मनुष्यगति में तथा घर्मा नामके

गतिमें ही जन्मलेते हैं। वे मरकर देव या नारक नहीं हो सकते। तथा तिर्यञ्च और मनुष्योंमें भी कर्मभूमिजोंमें ही जन्मलेते हैं, भोगभूमिजोंमें नहीं। अतः वे आयुकर्मकी उत्कृष्टस्थिति एक पूर्वकोटि प्रमाण बांध सकते हैं, क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि की होती है। तथा, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव मरण करके चारोंही गति में उत्पन्न हो सकता है, अतः वह चारोंमें से किसी भी आयुका बन्ध कर सकता है। किन्तु वह मनुष्योंमें कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है, तिर्यञ्चोंमें भी कर्मभूमिज तिर्यञ्चही होता है, देवोंमें भवनवासी और व्यन्तर ही होता है, तथा नरकमें पहले नरकके तीन पाथड़ों तक ही जन्मलेता है, अतः उसके पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही आयुकर्मका बन्ध होता है। इसप्रकार एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय जीवके आयुकर्मके स्थितिबन्ध का निर्देश करके भिन्न भिन्न जीवोंकी अपेक्षासे उसकी अबाधा बतलाई है।

आयुकर्मकी अबाधाके सम्बन्धमें एक बात ध्यान रखने योग्य है। अबाधाके सम्बन्धमें ऊपर जो एक नियम बतला आये हैं कि एक कोटिकोटि सागरकी स्थितिमें सौ वर्ष अबाधाकाल होता है, वह नियम आयुकर्मके सिवाय शेष सातकर्मोंकी ही अबाधा निकालनेके लिये है। आयुकर्मकी अबाधा स्थितिके अनुपात पर अवलम्बित नहीं है। इसीसे कर्मकाण्डमें लिखा है—

"आउस्स य आबाहा ण ट्ठिदिपडिभागमाउस्स ॥१५८॥"

अर्थात्—'जैसे अन्यकर्मोंमें स्थितिके प्रतिभागके अनुसार आबाधाका प्रमाण निकाला जाता है, वैसे आयुकर्ममें नहीं निकाला जाता।'

इसका कारण यह है कि अन्यकर्मोंका बन्ध तो सर्वदा होता रहता है; किन्तु आयुकर्मका बन्ध अमुक अमुक कालमें ही होता है। गतिके अनुसार

पहले नरक में और देवद्विक अर्थात् भवनवासी और व्यंतरदेवों में उत्पन्न होते हैं।

वे अमुक अमुक काल निम्नप्रकार हैं—मनुष्यगति और तिर्यञ्चगतिमें जब भुज्यमान आयुके दो भाग बीत जाते हैं, तब परभवकी आयुके बन्धका काल उपस्थित होता है। जैसे, यदि किसी मनुष्यकी आयु ९९ वर्षकी है, तो उसमें से ६६ वर्ष बीतनेपर वह मनुष्य परभवकी आयु बांध सकता है, इससे पहले उसके आयुकर्मका बन्ध नहीं हो सकता। इसीसे मनुष्य और तिर्यञ्चोंके बध्यमान आयुकर्मका अबाधाकाल एक पूर्वकोटिका तीसरा भाग बतलाया है, क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चकी आयु एक पूर्वकोटि की होती है और उसके त्रिभागमें परभवकी आयु बंधती है। यह तो हुई कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी अपेक्षासे आयुकर्मकी अबाधाकी व्यवस्था। भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च तथा देव और नारक अपनी अपनी आयु के छह मास शेष रहनेपर परभवकी आयु बांधते हैं। इसीसे ग्रन्थकारने निरुपक्रम आयुवालोंके बध्यमान आयुका अबाधाकाल छहमास बतलाया है।

---

१ आयुबन्ध तथा उसकी अबाधाके सम्बन्धमें मतभेदको दर्शाते हुए पञ्चसङ्ग्रहमें रोचक चर्चा है, जो इस प्रकार है—

"सुरनारयाउयाणं अयरा तेत्तीस तिन्नि पलियाइं।
इयराणं चउसुवि पुव्वकोडितंसो अबाहाओ ॥ २४४ ॥
वोलीणेसु दोसु भागेसु आउयस्स जो बंधो।
भणिओ असंभवाओ न घडइ सो गइचउक्के वि ॥ २४५ ॥
पलियासंखेज्जंसे बंधंति न साहिए नरतिरिच्छा।
छम्मासे पुण इयरा तदाउ तंसो बहुं होइ ॥ २४६ ॥
पुव्वाकोडी जेसिं आऊ अहिकिच्च ते इमं भणियं।
भणियं पि नियअबाहं आउं बंधंति अणुबंता ॥ २४७ ॥
निरुवक्कमाण छमासा इगिविगलाणं भवट्ठिइ तंसो।
पलियासंखेज्जंसं जुगधम्मीणं वयंतन्ने ॥ २४८ ॥"

अर्थ-'देवायु और नरकायु की उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर है। तिर्यगायु

आयुकर्मकी अबाधाके सम्बन्धमें जो दूसरी बात ध्यानमें रखने योग्य है वह यह है कि सातकर्मोंकी ऊपर जो स्थिति बतलाई गई है, उसमें उनका अबाधाकाल भी सम्मिलित है। जैसे, मिथ्यात्वमोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटिकोटि सागर बतलाई है और उसका अबाधाकाल सात हजार वर्ष है, तो ये सात हजार वर्ष उस सत्तर कोटिकोटि सागरमें ही सम्मिलित हैं। अतः यदि मिथ्यात्वकी अबाधारहित स्थिति, जिसे हम पहले 'अनुभवयोग्या' नामसे कह आये हैं, जानना हो तो सत्तर कोटिकोटि सागर में से सात हजार वर्ष कम कर देना चाहिये। किन्तु आयुकर्मकी स्थितिमें और मनुष्यायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य है। तथा चारों आयुओंकी एक पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण अबाधा है।

शङ्का–आयुके दो भाग बीतजाने पर जो आयुका बन्ध कहा है वह असंभव होनेसे चारों ही गतियों में नहीं घटता है। क्योंकि भोगभूमिया मनुष्य और तिर्यञ्च कुछ अधिक पल्यका असंख्यातवां भाग शेष रहने पर परभवकी आयु नहीं बाँधते हैं किन्तु पल्यका असंख्यातवां भाग शेष रहने पर ही परभव की आयु बाँधते हैं। तथा देव, और नारक भी अपनी आयु के छह माहसे अधिक शेष रहने पर परभव की आयु नहीं बाँधते हैं किन्तु छहमास आयु बाकी रहने पर ही परभव की आयु बाँधते हैं। किन्तु उनकी आयुका त्रिभाग बहुत होता है। तिर्यञ्च और मनुष्योंकी आयुका त्रिभाग एक पल्य और देव तथा नारकोंकी आयुका त्रिभाग ग्यारह सागर होता है।

उत्तर–जिन तिर्यञ्च और मनुष्योंकी आयु एक पूर्व कोटि होती है, उनकी अपेक्षासे ही एक पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण अबाधा बतलाई है। तथा यह अबाधा अनुभूयमान भवसम्बन्धी आयुमें ही जाननी चाहिये, परभव सम्बन्धी आयुमें नहीं; क्योंकि परभवसम्बन्धी आयुकी दलरचना प्रथम समय से ही हो जाती है, उसमें अबाधाकाल सम्मिलित नहीं है। अतः एक पूर्व कोटिकी आयुवाले तिर्यञ्च और मनुष्योंकी परभवकी आयुकी उत्कृष्ट अबाधा

यह बात नहीं है। आयुकर्मकी तेतीस सागर, तीन पल्य, पल्यका असंख्यातवां भाग आदि जो स्थिति बतलाई है, तथा आगे भी बतलायेंगे, वह शुद्ध स्थिति है। उसमें अबाधाकाल सम्मिलित नहीं है। इस अन्तरका कारण

पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण होती है। शेष देव, नारक और भोगभूमियोंके परभवकी आयुकी अबाधा छह मास होती है। और एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय जीवोंके अपनी अपनी आयुके त्रिभाग प्रमाण उत्कृष्ट अबाधा होती है। अन्य आचार्य भोगभूमियोंके परभवकी आयुकी अबाधा पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण कहते हैं।"

चन्द्रसूरि रचित संग्रहणीसूत्रमें इसी बातको और भी स्पष्ट करके लिखा है-

"बंधंति देवनारय असंखनरतिरि छमाससेसाऊ।
परभवियाऊ सेसा निरुवक्कमतिभागसेसाऊ॥ ३०१॥
सोवक्कमाउया पुण सेसतिभागे अहव नवमभागे।
सत्तावीस इमेवा अंतमुहुत्तंतिमेवावि॥ ३०२॥"

अर्थात्-'देव, नारक और असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच छह मासकी आयु बाकी रहने पर परभवकी आयु बांधते हैं: शेष निरुपक्रम आयु वाले जीव अपनी आयुका त्रिभाग बाकी रहने पर परभवकी आयु बांधते हैं। और सोपक्रम आयुवाले जीव अपनी आयुके त्रिभागमें अथवा नौवें भागमें, अथवा सत्ताईसवें भागमें परभवकी आयु बांधते हैं। यदि इन त्रिभागोंमें भी आयुबंध नहीं करपाते तो अंतिम अन्तर्मुहूर्तमें परभवकी आयु बांधते हैं।'

गो० कर्मकाण्डमें आयुबन्धके सम्बन्धमें साधारण तौर पर तो यही विचार प्रकट किये हैं। किन्तु देव, नारक और भोगभूमिजोंकी छह मास प्रमाण आबाधा को लेकर उसमें उक्त निरूपणसे मौलिक मतभेद है। कर्मकाण्ड के मतानुसार छह मासमें आयु बन्ध नहीं होता, किन्तु उसके

इस प्रकार उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति और अबाधाको बतला कर अब उनकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं—

लहुठिइबंधो संजलणलोह-पणविग्घ-नाण-दंसेसु ।
भिन्नमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥ ३५ ॥

अर्थ—संज्वलन लोभ, पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण और चार

तीनोंही ग्रन्थोंमें कोई अन्तर नहीं है। केवल एक बात उल्लेखनीय है वह यह कि कर्मकाण्ड और कर्मप्रकृतिमें वर्णादिचतुष्ककी स्थिति बीस कोटीकोटी सागर बतलाई है और कर्मग्रन्थमें उसके अवान्तर भेदोंको लेकर दस कोटी-कोटी सागरसे लेकर बीस कोटिकोटि सागर तककी स्थिति बतलाई है। इस अन्तरका स्पष्टीकरण कर्मग्रन्थकी स्वोपज्ञटीकामें ग्रन्थकारने स्वयं कर दिया है। वे लिखते हैं—

"यद्यपि वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शचतुष्कमेवाविवक्षितभेदं बन्धेऽधिक्रियते, भेदरहितस्यैव च तस्य कर्मप्रकृत्यादिषु विंशतिसागरोपमकोटीकोटीरूपा स्थितिर्निरूपिता, तथापि वर्णादिचतुष्कभेदानां विंशतेरपि पृथक् पृथक् स्थितिः पञ्चसंग्रहेऽभिहिता, अतोऽस्माभिरपि तथैवाभिहिता। बन्धे तु प्रतीत्य वर्णादिचतुष्कमेवाविशेषितं गणनीयम् ॥ २९ ॥'

अर्थात्—यद्यपि बन्ध अवस्थामें वर्णादि चार ही लिये जाते हैं, उनके भेद नहीं लिये जाते। कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें उनके भेदोंको न लेकर, वर्णादि चतुष्ककी स्थिति बीस कोटिकोटी सागर प्रमाण बतलाई है। तथापि पञ्चसंग्रह नामक ग्रन्थमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शके बीस भेदोंकी भी पृथक् पृथक् स्थिति बतलाई है अतः हमने भी वैसा ही कथन किया है। बन्धकी अपेक्षासे तो वर्णादि चार ही गिनने चाहिये, उनके भेद नहीं गिनने चाहिये।' उक्त अबाधाके विषयमें भी कोई अन्तर नहीं है।

पञ्चसंग्रह के गा० २३८ से स्थितिबन्धका विवेचन प्रारम्भ होता है।

दर्शनावरणोंका जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। यशःकीर्ति और उच्चगोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध आठमुहूर्त प्रमाण होता है। और सात-वेदनीयका जघन्य स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त प्रमाण होता है।

भावार्थ—इस गाथासे जघन्य स्थितिबन्धका वर्णन प्रारम्भ होता है। इसमें अठारह प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धके प्रमाणका निर्देश किया है। यह स्थितिबन्ध अपने अपने बन्धव्युच्छित्तिके समयमें ही होता है। अर्थात् जब इन प्रकृतियोंके बन्धका अन्तकाल आता है, तभी उक्त जघन्य स्थिति-बन्ध होता है। अतः संज्वलन लोभका जघन्य स्थितिबन्ध नवें गुणस्थानमें और पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशःकीर्ति और उच्च गोत्रका जघन्य स्थितिबन्ध दसवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें होता है। सात वेदनीयकी बारह मुहूर्त प्रमाण जो जघन्यस्थिति बतलाई है, वह सकषाय बन्धककी अपेक्षासे बतलाई है। अकषाय बन्धककी अपेक्षासे तो उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोंमें उसकी जघन्यस्थिति दो समय मात्र ही होती है, यह पहले कह आये हैं॥

[1]दो इगमासो पक्खो संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि।
सेसाणुक्कोसा[2]उ मिच्छत्तठिईए[3] जं लद्धं॥ ३६॥

अर्थ—संज्वलन क्रोधकी दो मास, संज्वलन मानकी एक मास, संज्व-लन मायाकी एक पक्ष और पुरुष वेदकी आठ वर्ष जघन्यस्थिति है। तथा, शेष प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थितिमें मिथ्यात्वमोहनीयकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागरका भाग देने पर जो लब्ध आता है वही उनकी जघन्य स्थिति जाननी चाहिये।

---

१ तुलना करो—
"दो मास एग अद्धं अंतमुहुत्तं च कोहपुव्वाणं।
सेसाणुक्कोसाउ मिच्छत्तठिईए जं लद्धं॥ २५९॥" पञ्चसं०

२—साओ। ३—ईइ।

भावार्थ—इस गाथामें जिन चार कर्मप्रकृतियोंका कंठोक्त स्थितिबन्ध बतलाया है, उनका वह जघन्यस्थितिबन्ध अपनी अपनी बन्धव्युच्छित्तिके कालमें ही होता है। अतः चारों ही प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध नवमें गुणस्थानमें होता है। इससे पहली गाथामें निर्दिष्ट अठारह और इसमें निर्दिष्ट चार प्रकृतियोंके सिवाय तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विककी जघन्यस्थिति तो उनकी उत्कृष्ट स्थितिके साथही बतला आये हैं। चारों आयु और वैक्रियषट्ककी जघन्यस्थिति आगे बतलायेंगे। अतः ८५ प्रकृतियाँ शेष रह जाती हैं, जिनका जघन्यस्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव ही करते हैं। उन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति पृथक् पृथक् न बतलाकर ग्रन्थकार ने उनकी जघन्यस्थिति जाननेके लिये एक सामान्य नियमका निर्देश कर दिया है। जिसके अनुसार उक्त ८५ प्रकृतियोंमें से किसी भी प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकर्मकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटि सागरका भाग देनेसे उस प्रकृतिकी जघन्यस्थिति मालूम हो जाती है। इस नियमके अनुसार निद्रापञ्चक और असातावेदनीयकी जघन्यस्थिति $\frac{३}{७}$ सागर, मिथ्यात्वकी एक सागर, अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायोंकी $\frac{४}{७}$ सागर, स्त्रीवेद और मनुष्यद्विककी $\frac{३}{१४}$ सागर (क्योंकि इनकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटीकोटी सागरमें सत्तर कोटीकोटी सागरका भाग देनेसे $\frac{१५}{७०}$ आता है। ऊपर और नीचेके दोनों अङ्कोंको ५ से काटने पर $\frac{३}{१४}$ शेष रहता है)। सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिककी $\frac{९}{३५}$ सागर (क्योंकि इनकी उत्कृष्टस्थिति १८ को० सा० में ७० को० सा० का भाग देने से $\frac{१८}{७०}$ आता है। ऊपर और नीचेके अंकोंको दो से काटने पर $\frac{९}{३५}$ शेष रहता है)।

बन्धका प्रमाण निकालनेके लिये भी वही विधान काममें लाया जाता है। उस विधानके अनुसार विवक्षित प्रकृतिकी पहले बतलाई गई उत्कृष्टस्थिति में मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देनेपर जितना लब्ध आता है एकेन्द्रिय जीवके उस प्रकृतिका उतना ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। जैसे, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय और पाँच अन्तराय, इन इक्कीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय जीवके $\frac{3}{7}$ सागर प्रमाण होता है, क्योंकि इन प्रकृतियोंके वर्गोकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटीकोटी सागर है। उसमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थितिसे भाग देनेपर $\frac{3}{7}$ सागर लब्ध आता है। इसी क्रमसे अन्य प्रकृतियोंकी स्थिति निकालने पर, मिथ्यात्वके एक सागर, सोलह कषायोंकी $\frac{4}{7}$ सागर, नौ नोकषायोंकी $\frac{2}{7}$ सागर, वैक्रिय[1]

[1] एकेन्द्रियादिक जीवोंके वैक्रियषट्कका बन्ध नहीं होता अतः उसके जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति नहीं बतलाई गई है। किन्तु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियके उसका बन्ध होता है, अतः उसकी अपेक्षासे वैक्रियषट्ककी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति पञ्चसंग्रहमें निम्नप्रकारसे बतलाई है–

"वेउव्विछक्कि तं सहसताडियं जं असन्निणो तेसिं।
पलियासंखंसूणं ठिई अबाहूणियनिसेगो ॥ २५६ ॥"

अर्थात्–"उक्तरीतिके अनुसार वैक्रियषट्ककी बीस कोटीकोटी सागर-प्रमाण स्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति ७० कोटीकोटी सागरका भाग देने से जो $\frac{2}{7}$ स्थिति आती है, उसे एक हजारसे गुणा करनेपर असंज्ञी जीवके वैक्रियषट्ककी उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण आता है। उसमें पल्यका असंख्यातवां भाग कमकर देनेसे जघन्यस्थितिका प्रमाण आता है।" यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि पहले नरकद्विक और वैक्रियद्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध बीस कोटीकोटी सागर और देवद्विकका दस कोटीकोटी सागर बतलाया है। तथापि यहाँ उसकी जघन्यस्थिति बतलानेके लिये बीस कोटीकोटी सागर

षट्क, आहारकद्विक और तीर्थङ्करको छोड़कर, एकेन्द्रियके बंधने योग्य नामकर्मकी शेष अट्ठावन प्रकृतियोंकी और दोनों गोत्रोंकी $\frac{2}{7}$ सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति आती है। इस उत्कृष्टस्थिति बन्धमेंसे पल्यका असंख्यातवां भाग कम करदेने पर एकेन्द्रिय जीवके जघन्य स्थितिबन्धका प्रमाण आता है। अर्थात् प्रत्येक प्रकृतिकी $\frac{3}{7}$ सागर वगैरह जो उत्कृष्टस्थिति निकाली है, उसमें से पल्यका असंख्यातवां भाग कम करदेने पर वही उस प्रकृतिकी जघन्यस्थिति होजाती है।

गाथाके पूर्वार्धद्वारा एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे स्थितिबन्धका परिमाण बतलाकर, उत्तरार्धद्वारा द्वीन्द्रियादिक जीवोंकी अपेक्षासे उसका परिमाण बतलाया है। जिसका आशय यह है कि एकेन्द्रिय जीवके $\frac{3}{7}$ सागर वगैरह जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उसे पच्चीससे गुणा करनेपर द्वीन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण आता है। अर्थात् प्रत्येक प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध द्वीन्द्रिय जीवके एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे पच्चीस गुना अधिक होता है। जैसे, एकेन्द्रिय जीवके मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति एक सागरप्रमाण बंधती है। तो द्वीन्द्रियजीवके उसकी उत्कृष्टस्थिति पच्चीस सागर प्रमाण बंधती है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियोंमें भी समझलेना चाहिये। तथा, एकेन्द्रिय जीवके जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उससे पचास गुना उत्कृष्ट स्थितिबन्ध त्रीन्द्रिय जीवके होता है। जैसे, एकेन्द्रिय जीवके मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागर बंधती है तो त्रीन्द्रियके पचास सागर प्रमाण बंधती है। ऐसे ही अन्य प्रकृतियोंमें भी समझलेना चाहिये। तथा, एकेन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे सौगुना उत्कृष्ट स्थितिबन्ध

प्रमाण ही लिया गया है जैसा कि उसकी टीकामें (पृ० २२८ पृ०) आचार्य मलयगिरिजीने लिखा है—"देवद्विकस्य तु यद्यपि दशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणस्तथापि तस्य जघन्यस्थितिपरिमाणानयनाय विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणो विवक्ष्यते।"

चतुरिन्द्रिय जीव करता है, अतः मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चतुरिन्द्रिय जीवके सौ सागर प्रमाण होता है। ऐसा ही अन्य प्रकृतियोंके बारेमें भी समझलेना चाहिये। तथा एकेन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे एक हजार गुणा स्थितिबन्ध असंज्ञिपंचेन्द्रिय जीवके होता है। इसके अनुसार मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति असंज्ञिपंचेन्द्रिय जीवके एक हजार सागर प्रमाण बंधती है। ऐसा ही अन्य प्रकृतियोंके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये।

---

१ कर्मकाण्डमें एकेन्द्रियादिक जीवोंके स्थितिबन्धका प्रमाण जिस शैलीसे बतलाया है, स्वाध्यायप्रेमियोंके लिये उसे यहां उद्धृत करते हैं–

"एयं पणकदी पण्णं सयं सहस्सं च मिच्छवरबन्धो।
इगविगलाणं अवरं पल्लासंखूणसंखूणं ॥ १४४ ॥"

अर्थात्–एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवोंके मिथ्यात्वका उत्कृष्टस्थितिबन्ध क्रमशः एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर प्रमाण होता है। तथा उसका जघन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रियके पल्यके असंख्यातवें भाग हीन एक सागर प्रमाण होता है और विकलेन्द्रिय जीवोंके पल्यके संख्यातवें भाग हीन अपनी अपनी उत्कृष्टस्थितिप्रमाण होता है। आगे लिखते हैं–

"जदि सत्तरिस्स एत्तियमेत्तं किं होदि तीसियादीणं।
इदि संपाते सेसाणं इगविगलेसु उभयठिदी ॥ १४५ ॥"

अर्थात्–यदि सत्तर कोटीकोटी सागरकी स्थितिवाला मिथ्यात्वकर्म एकेन्द्रिय जीवके एक सागर, द्वीन्द्रियके पच्चीस सागर, त्रीन्द्रियके पचास सागर, चतुरिन्द्रियके सौ सागर और असंज्ञिपंचेन्द्रियके एक हजार सागर प्रमाण बंधता है, तो तीस कोटीकोटी सागर आदिकी स्थितिवाले अन्य कर्म उनके कितनी स्थितिको लेकर बंधेंगे, ऐसा त्रैराशिक करने पर एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवोंके शेष प्रकृतियोंकी दोनों स्थितियां मालूम हो जाती हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपंचेन्द्रियके उक्त अपने अपने उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें पल्यका संख्यातवां भाग कम करदेनेपर अपना अपना जघन्य स्थितिबन्ध होता है। इसप्रकार एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञि पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवोंके स्थितिबन्धका प्रमाण जानना चाहिये।

अब बाकी बचे आयुकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति बतलाते हैं—

सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभवं ॥ ३८ ॥

अर्थ—देवायु और नरकायुकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष है और शेष मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी जघन्यस्थिति क्षुद्रभव प्रमाण है।

भावार्थ—ऊपर जिन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति आगे बतलाने का निर्देश कर आये थे, उनमेंसे चारों आयुकी जघन्यस्थिति यहां बतलाई है। आगममें मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाई है, और यहां क्षुद्रभव प्रमाण लिखी है। इसका कारण यह है कि अन्तर्मुहूर्तके बहुतसे भेद हैं। अतः यह बतलानेके लिये कि अन्तर्मुहूर्त क्षुद्रभवप्रमाण लेना चाहिये, यहां अन्तर्मुहूर्त न लिखकर उसके ठीक ठीक परिमाणका सूचक क्षुद्रभव लिखा है। क्षुद्रभवका निरूपण आगे ग्रन्थकार स्वयं करेंगे।

जघन्य स्थितिका कथन करके, अब जघन्य अबाधाको बतलाते हैं—

सव्वाणवि लहुबंधे भिन्नमुहू अबाह आउजिट्ठे वि।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू बिंति आहारं ॥ ३९ ॥

अर्थ—समस्त प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धमें तथा आयुकर्मके उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें भी जघन्य अबाधाका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। किन्हीं आचार्यों के मतसे तीर्थङ्करनामकी जघन्यस्थिति देवायुके समान अर्थात् दस हजार वर्ष है और आहारकद्विक की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

भावार्थ—इस गाथाके पूर्वार्द्धमें सभी उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्य

तीनों प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति ग्रन्थकार पहले अन्तःकोटीकोटीसागर बतला आये हैं। उन्हींके सम्बन्धमें यह मतान्तर[1] जानना चाहिये।

तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुकी जघन्यस्थिति क्षुद्रभवके बराबर बतलाई है। अतः दो गाथाओंसे क्षुद्रभवका निरूपण करते हैं—

सत्तरससमहिया किर इगाणुपाणुंमि हुंति खुड्डभवा।
सगतीससयतिहुत्तर पाणू पुण इगमुहुत्तंमि ॥ ४० ॥
पणसट्ठिसहस्सपणसय छत्तीसा इगमुहुत्तखुड्डभवा।
आवलियाणं दोसय छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥ ४१ ॥

अर्थ—एक श्वासोच्छ्वासमें कुछ अधिक सतरह क्षुद्र या क्षुल्लक भव होते हैं। एक मुहूर्तमें ३७७३ श्वासोछ्वास होते हैं। तथा, एक मुहूर्तमें ६५५३६[2] क्षुद्रभव होते हैं और एक क्षुद्रभवमें २५६ आवली होती हैं।

---

१ यह मत पञ्चसङ्ग्रहकारका जान पड़ता है; क्योंकि उन्होंने तीर्थङ्कर-नामकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष और आहारककी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त बतलाई है। यथा—

"सुरनारयाउयाणं दसवाससहस्स लघु सतित्थाणं ॥ २५३ ॥"

अर्थात्–तीर्थङ्कर नाम सहित देवायु नरकायुकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है। तथा—

'साए बारस हारगविग्घावरणाण किंचूणं ॥ २५४ ॥'

'सात वेदनीयकी बारह मुहूर्त और आहारक, अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी कुछ कम मुहूर्तप्रमाण जघन्यस्थिति है।'

२ जीवकाण्डमें एक अन्तर्मुहूर्तमें ६६३३६ क्षुद्र भव कहे हैं। यथा—

"तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठि सहस्सगाणि मरणाणि।
अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ १२३ ॥"

अर्थात्–लब्ध्यपर्याप्तक जीव एक अन्तर्मुहूर्तमें ६६३३६ बार मरण

भावार्थ—गाथा ३८में मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी जघन्य स्थिति क्षुल्लकभव या क्षुद्रभव प्रमाण बतलाई थी, अतः इन गाथाओंके द्वारा क्षुद्र भवका प्रमाण बतलाया है। (निगोदिया जीवके भवको क्षुद्रभव कहते हैं, क्योंकि उसकी स्थिति सब भवोंकी अपेक्षासे अति अल्प होती है और वह भव मनुष्य और तिर्यञ्च पर्यायमें ही होता है। अतः मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु की जघन्य स्थिति क्षुद्रभव प्रमाण बतलाई है। क्षुद्रभवके कालका प्रमाण निम्न प्रकार है—

जैन कालगणनाके[1] अनुसार, असंख्यात समयकी एक आवली होती

करता है, अतः एक अन्तर्मुहूर्तमें उतनेही अर्थात् ६६३३६ ही क्षुद्रभव होते हैं। तथा—

"सीदी सट्ठी तालं वियले चउवीस होंति पंचक्खे।
छावट्ठि च सहस्सा सयं च बत्तीसमेयक्खे ॥१२४॥"

'उन ६६३३६ भवोंमें से, द्वीन्द्रियके ८०, त्रीन्द्रियके साठ, चतुरिन्द्रियके ४०, पंचेन्द्रियके २४ और एकेन्द्रियके ६६१३२ क्षुद्रभव होते हैं।'

इस प्रकार दिगम्बरोंके अनुसार एक श्वासमें १८ क्षुद्रभव होते हैं।

१ ज्योतिष्करण्डकमें लिखा है—

"कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो तं तु जाण समयं तु।
समया य असंखेज्जा हवइ हु उस्सासनिस्सासो ॥ ८ ॥
उस्सासो निस्सासो यदोऽवि पाणुत्ति भन्नए एक्को।
पाणा य सत्त थोवा थोवावि य सत्त लवमाहु ॥ ९ ॥
अट्ठत्तीसं तु लवा अद्धलवो चेव नालिया होइ।"

अर्थात्—कालके अत्यन्त सूक्ष्म अविभागी अंशको समय कहते हैं। असंख्यात समयका एक उच्छ्वास-निश्वास होता है, उसे प्राण भी कहते हैं। सात प्राणका एक स्तोक, सात स्तोकका एक लव, साढ़े अड़तीस लवकी एक नाली और 'बे नालिया मुहुत्तो' दो नालीका एक मुहूर्त होता है।

है। संख्यात आवलीका एक उच्छ्वास-निश्वास होता है। अर्थात् एक रोगरहित निश्चिन्त तरुण पुरुषके एक बार श्वास लेने और त्यागनेके कालको एक उच्छ्वास-निश्वासकाल या श्वासोच्छ्वासकाल कहते हैं। सात श्वासोच्छ्वासकालका एक स्तोक होता है। सात स्तोकका एक लव होता है। साढे अड़तीस लवकी एक नाली या घटिका होती है और दो घटिकाका एक मुहूर्त होता है। अतः एक मुहूर्तमें श्वासोच्छ्वासोंकी संख्या मालूम करनेके लिये १ मु० × २ घ० × ३८$\frac{१}{२}$ लव × ७ स्तोक × ७ उच्छ्वास, इस प्रकार सबको गुणा करनेपर ३७७३ संख्या आती है। तथा, एक मुहूर्तमें एक निगोदिया जीव ६५५३६ बार जन्म लेता है। अतः ६५५३६में ३७७३से भाग देनेपर १७$\frac{१३९५}{३७७३}$ लब्ध आता है। अतः एक श्वासोच्छ्वासकालमें सतरहसे कुछ अधिक क्षुद्रभवोंका प्रमाण जानना चाहिये। अर्थात् एक क्षुद्रभवका काल एक उच्छ्वास-निश्वासकालके कुछ अधिक सतरहवें भाग प्रमाण होता है। उतने ही समयमें दो सौ छप्पन आवली होती हैं।

यदि आधुनिक कालगणनाके अनुसार क्षुद्रभवके कालका प्रमाण निकाला जावे तो वह इस प्रकार होगा। एक मुहूर्तमें अड़तालीस मिनिट होते हैं, अर्थात् एक मुहूर्त ४८ मिनिटके बराबर होता है। और एक मुहूर्तमें ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं। अतः ३७७३में ४८से भाग देनेपर एक मिनिटमें साढ़े अठत्तरके लगभग श्वासोच्छ्वास आते हैं। अर्थात् एक श्वासोच्छ्वासका काल एक सैकिन्डसे भी कम होता है, उतने कालमें निगोदिया जीव सतरहसे भी कुछ अधिक बार जन्म धारण करता है। इससे क्षुद्रभवकी क्षुद्रताका अनुमान सरलतासे किया जा सकता है।

वैक्रियषट्कके सिवाय शेष प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका और सभी प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धका निरूपण करके, अब उनके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हैं—

क्योंकि प्रमत्तसंयत मुनिसे, भले ही वह अप्रमत्त भावके अभिमुख हो, अप्रमत्त मुनिके भाव विशुद्ध होते हैं।

समाधान—अप्रमत्त गुणस्थानमें देवायुके बन्धका आरम्भ नहीं होता, किन्तु प्रमत्त गुणस्थानमें प्रारम्भ हुआ देवायुका बन्ध कभी कभी अप्रमत्त गुणस्थानमें पूर्ण होता है। द्वितीय कर्मग्रन्थमें छठे और सातवें गुणस्थानमें बन्धप्रकृतियोंकी संख्या बतलाते हुए जो कुछ लिखा है उससे यही आशय निकलता है कि जो प्रमत्त मुनि देवायुके बन्धका प्रारम्भ करते हैं, उनकी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक तो उसी गुणस्थानमें देवायुके बन्धका प्रारम्भ करके उसीमें उसकी समाप्ति कर लेते हैं और दूसरे छठे गुणस्थानमें उसका बन्ध प्रारम्भ करके सातवेंमें उसकी पूर्ति करते हैं। अतः अप्रमत्त अवस्थामें देवायुके बन्धकी समाप्ति तो हो सकती है किन्तु उसका प्रारम्भ नहीं हो सकता। इसीलिये देवायुके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका

---

१ 'तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं।
वुच्छिज्ज छच सत्त व नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥ ७ ॥
गुणसट्ठि अपमत्ते सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥ ८ ॥'

अर्थात्—'प्रमत्त गुणस्थानमें त्रेसठ प्रकृतियोंका बन्ध होता है और छह प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है। यदि देवायुके बन्धकी पूर्ति भी यहीं हुई तो सातकी व्युच्छित्ति होती है। अप्रमत्त गुणस्थानमें, यदि देवायुका बन्ध वहां चला आया तो उनसठ प्रकृतियोंका बन्ध होता है, अन्यथा अट्ठावनका बन्ध होता है, क्योंकि वहां आहारकद्विकका भी बन्ध होता है।'

सर्वार्थसिद्धिमें भी देवायुके बन्धका आरम्भ मुख्यतया छठवें गुणस्थानमें ही बतलाया है। यथा—"देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुरप्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्नः।" पृ० २३८।

स्वामी अप्रमत्तको न बतलाकर अप्रमत्त भावके अभिमुख प्रमत्त संयमीको बतलाया है।

आहारकद्विक, तीर्थङ्कर और देवायुके सिवाय शेष ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि ही करता है; क्योंकि पहले लिख आये हैं कि उत्कृष्ट स्थितिबन्ध प्रायः संक्लेशसे ही होता है, और सब बन्धकोंमें मिथ्यादृष्टिके ही विशेष संक्लेश पाया जाता है। किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि इन ११६ प्रकृतियोंमेंसे मनुष्यायु और तिर्यगायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध विशुद्धिसे होता है, अतः इन दोनोंका बन्धक संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि न होकर विशुद्ध परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव होता है।

शंका—मनुष्यायुका बन्ध चौथे गुणस्थानतक होता है और तिर्यञ्चायुका बन्ध दूसरे गुणस्थानतक होता है। अतः मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टिके होना चाहिये और तिर्यञ्चायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सास्वादन सम्यग्दृष्टिके होना चाहिये। क्योंकि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे अविरत सम्यग्दृष्टि और सास्वादनसम्यग्दृष्टिके परिणाम विशेष विशुद्ध होते हैं, और तिर्यगायु तथा मनुष्यायुके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके लिये विशुद्ध परिणामोंकी ही आवश्यकता है।

समाधान—यह सत्य है कि अविरत सम्यग्दृष्टिके परिणाम मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे विशेष विशुद्ध होते हैं, किन्तु उनसे मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं होसकता, क्योंकि मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्योपम है और वह उत्कृष्टस्थिति भोगभूमिज मनुष्यों और तिर्यञ्चोंके ही होती है। परन्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती देव और नारक मनुष्यायुका बन्ध करके भी कर्मभूमिमें ही जन्मलेते हैं, और मनुष्य तथा तिर्यञ्च, यदि अविरत सम्यग्दृष्टि हों तो देवायुका ही बन्ध करते हैं। अतः चतुर्थ गुणस्थानकी विशुद्धि उत्कृष्ट मनुष्यायुके बन्धका कारण नहीं होसकती। तथा, दूसरा गुणस्थान उसी समय होता है जब जीव सम्यक्त्वका वमन करके

तिरिउरलदुगुज्जोयं छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया।

अर्थ—तिर्यञ्चद्विक, औदारिकद्विक, उद्योतनाम और सेवार्तसंहनन, इन छह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध देव और नारक करते हैं। शेष प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चारों गतिके मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, औदारिक शरीर, औदारिक-अङ्गोपाङ्ग, उद्योत और सेवार्त संहननका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्य और तिर्यञ्च नहीं कर सकते, क्योंकि उक्त प्रकृतियोंके बन्धके योग्य संक्लिष्ट परिणाम होनेपर मनुष्य और तिर्यञ्च इन छह प्रकृतियोंकी अधिकसे अधिक अठारह सागरप्रमाण ही स्थितिका बन्ध करते हैं। यदि उससे अधिक संक्लेश परिणाम होते हैं तो प्रस्तुत प्रकृतियोंके बन्धका अतिक्रमण करके वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं किन्तु देव और नारक तो उत्कृष्टसे उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंके होनेपर भी तिर्यञ्चगतिके योग्य ही प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं, नरक गतिके योग्य प्रकृतियोंका नहीं, क्योंकि देव और नारक मरकर नरकमें उत्पन्न नहीं होते। अतः उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंसे युक्त देव और नारक ही प्रस्तुत छह प्रकृतियोंकी बीस कोटीकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करते हैं। यहाँ सामान्यसे कहने पर भी इतना विशेष जानना चाहिये कि ईशान स्वर्गसे ऊपरके सानत्कुमार आदि स्वर्गोंके देवही सेवार्तसंहनन और औदारिक अङ्गोपाङ्गका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं; ईशान तकके देव नहीं करते। क्योंकि ईशान तकके देव उनके योग्य संक्लेश परिणामोंके होने पर भी दोनों प्रकृतियोंकी अधिकसे अधिक अठारह सागर प्रमाण मध्यम स्थितिका ही बन्ध करते हैं। और यदि उनके उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम होते हैं तो एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं। तथा सानत्कुमार आदि स्वर्गोंके देव उत्कृष्ट संक्लेश होनेपर भी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका नहीं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति एकेन्द्रियोंमें नहीं होती। अतः प्रस्तुत दो

[...] बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध उत्कृष्ट [प]रिणाम वाले सनत्कुमार आदि स्वर्गोंके देव ही करते हैं, नीचेके [...] करते; क्योंकि ये दोनों प्रकृतियाँ एकेन्द्रियके योग्य नहीं हैं, एकेन्द्रिय [...]न और अङ्गोपाङ्ग नहीं होते। सारांश यह है कि एकतरहके परिणाम [...]ए भी गति वगैरहके भेदसे उसमें भेद हो जाता है। जैसे, जिन परि-[...]से ईशान स्वर्ग तकके देव एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते [...]से ही परिणाम होने पर मनुष्य और तिर्यञ्च नरकगतिके योग्य प्रकृ-[ति]योंका बन्ध करते हैं। अस्तु, मिथ्यादृष्टिके बन्धने योग्य ११६ प्रकृतियोंमें २४ प्रकृतियोंके सिवा शेष ९२ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चारों ही [ग]तिके मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियों को बतलाकर अब जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हैं—

आहारजिणमपुव्वोऽनियट्टि संजलण पुरिस लहुं ॥ ४४ ॥

अर्थ—आहारकद्विक और तीर्थंकरनामका जघन्य स्थितिबन्ध अपूर्व-करण नामके आठवें गुणस्थानमें होता है, और संज्वलन कषाय और पुरु-षवेदका जघन्य स्थितिबन्ध अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थानमें होता है।

भावार्थ—जैसे उत्कृष्ट स्थितिबन्धके लिये उत्कृष्ट संक्लेश होना आवश्यक है, उसी तरह जघन्य स्थितिबन्धके लिये उत्कृष्ट विशुद्धि होना आवश्यक है। इसीसे आहारकद्विक और तीर्थंकरका जघन्य स्थितिबन्ध आठवेंमें और संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ तथा पुरुषवेदका जघन्य स्थितिबन्ध नौवें गुणस्थानमें बतलाया है। इन प्रकृतियोंका बन्ध इन्हीं गुणस्थानों तक होता है, अतः इनके बन्धकोंमें उक्त गुणस्थानवाले जीव ही अति विशुद्ध होते हैं। यहां इतना विशेष समझना चाहिये कि उक्त दोनों गुणस्थान क्षपक श्रेणिके ही लेना चाहिये; क्योंकि उपशम श्रेणिसे [...] विशेष विशुद्धि होती है।

बन्धके अल्पबहुत्वके दिग्दर्शक इन स्थानोंकी संख्या ३६ है। समस्त जीव-समास १४ हैं और एक एक जीवसमासमें जघन्य और उत्कृष्टके भेदसे दो दो स्थितियाँ होती हैं । अतः जीव समासकी अपेक्षासे तो स्थितिके स्थान अट्ठाईस ही होते हैं किन्तु स्थितिबन्धके अल्पबहुत्वका निरूपण करते हुए उनमें आठ स्थान और भी सम्मिलित हो जाते हैं। जिनमें चार स्थान अविरत सम्यग्दृष्टिके हैं, दो स्थान देशसंयतके हैं, एक स्थान संयत-का है और एक स्थान सूक्ष्मसाम्परायका है । इस प्रकार समस्त स्थानोंकी संख्या छत्तीस होती है । आगे आगेका प्रत्येक स्थान अपने पूर्ववर्ती स्थानसे या तो गुणित है या अधिक है । जब कोई राशि किसी राशिमें गुणा करनेसे उत्पन्न होती है तो उसे गुणित कहते हैं। जैसे ४में २का गुणा करनेपर लब्ध ८आता है। यह आठ अपने पूर्ववर्ती ४से दो गुणित है। किन्तु यदि ४ में २ का भाग देकर लब्ध २ को ४ में जोड़ा जाये तो इसप्रकार जो ६ संख्या आयेगी उसे विशेषाधिक या कुछ अधिक कहा जायेगा क्योंकि यह राशि गुणाधिक नहीं है किन्तु भागाधिक है । गुणित और विशेषाधिकमें यही अन्तर है । उक्त स्थितिस्थानोंको यदि ऊपरसे नीचे की ओर देखा जाये तो स्थिति अधिक अधिक होती जाती है और यदि नीचेसे ऊपरकी ओर देखा जाये तो स्थिति घटती जाती है। इससे यह सहजमें समझमें आजाता है कि किस जीवके अधिक स्थिति बंधती है और किस जीवके कम स्थिति बंधती है। एकेन्द्रियसे द्वीन्द्रियके, द्वीन्द्रियसे त्रीन्द्रियके, त्रीन्द्रियसे चतुरिन्द्रियके और चतुरिन्द्रियसे असंज्ञिपंचेन्द्रियके स्थितिबन्ध अधिक होता है । तथा असंज्ञी पंचेन्द्रियसे संयमीके, संयमीसे देशसंयमीके, देशसंयमीसे अविरत सम्यग्दृष्टिके और अविरत सम्यग्दृष्टिसे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिके स्थितिबन्ध अधिक होता है। उनमें भी [illegible] [illegible] जघन्य स्थितिबन्धसे [illegible] जघन्य स्थितिबन्ध अधिक होता है इस प्रकार एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्त और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय

से संयमीके जो उत्तरोत्तर अधिक अधिक स्थितिबन्ध बतलाया है, इससे यही स्पष्ट होता है कि जीवोंमें ज्यों ज्यों चैतन्यशक्तिका अधिक अधिक विकास होता जाता है, त्यों त्यों संक्लेशकी संभावना भी अधिक अधिक होती जाती है, और यतः एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीव प्रायः हिताहितविवेकसे रहित मिथ्यादृष्टि होते हैं और उनमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वे अपनी विकसित चैतन्यशक्तिका उपयोग संक्लेश परिणामोंके रोकनेमें करें, अतः उनके उत्तरोत्तर अधिक अधिक ही स्थितिबन्ध

---

१ कर्मकाण्डमें स्थितिबन्धका अल्पबहुत्व तो नहीं बतलाया है, किन्तु एकेन्द्रिय आदि जीवोंके अवान्तर भेदोंमें स्थितिबन्धका निरूपण किया है। उसके द्वारा स्थितिबन्धके अल्पबहुत्वका परिज्ञान हो जाता है। एकेन्द्रिय आदि जीवोंके अवान्तर भेदोंमें स्थितिबन्धका निरूपण करते हुए निम्न क्रम लिखा है–

"बादुप बादुअ वरट्ठिदीओ सुवाअ सुवाप जहण्णकालो।
बीबीवरो बीबीजहण्णकालो सेसाणमेवं वयणीयभेदं ॥१४८॥"

अर्थ–बादर पर्याप्तककी उत्कृष्ट स्थिति, सूक्ष्म पर्याप्तककी उत्कृष्ट स्थिति, बादर अपर्याप्तककी उत्कृष्ट स्थिति, सूक्ष्म अपर्याप्तककी उत्कृष्ट स्थिति, सूक्ष्म अपर्याप्तककी जघन्य स्थिति, बादर अपर्याप्तककी जघन्य स्थिति, सूक्ष्म पर्याप्तककी जघन्य स्थिति, बादर पर्याप्तककी जघन्य स्थिति, ये एकेन्द्रियके भेदों का क्रम है। द्वीन्द्रिय पर्याप्त और द्वीन्द्रिय अपर्याप्तकी उत्कृष्ट स्थिति, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त और द्वीन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य स्थिति, इसी प्रकार त्रीन्द्रिय आदि में भी जानना चाहिये। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदिके इन अवान्तर भेदोंमें जो स्थिति बतलाई है वह उत्तरोत्तर कम है। अतः उनके इस क्रमको नीचेसे ऊपरकी ओर पढ़नेपर कर्मग्रन्थमें प्रतिपादित अल्पबहुत्वके स्थानोंके अनुकूल ही क्रम भी ठहरता है।

ही है। अतः उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ही अशुभ है, क्योंकि उसका कारण कषायों की तीव्रता है, और शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध शुभ है क्योंकि उसका कारण कषायोंकी मन्दता है। अतः उत्कृष्ट स्थितिबन्धकी तरह उत्कृष्ट अनुभागबन्धको सर्वथा अशुभ नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार उत्कृष्ट संक्लेशसे उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और विशुद्धिसे जघन्य स्थितिबन्ध होता है, किन्तु तीन प्रकृतियाँ—देवायु, मनुष्यायु और नरकायु, इस नियमके अपवाद हैं। इन तीन प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति शुभ मानी जाती है क्योंकि उसका बन्ध विशुद्धिसे होता है, और जघन्य स्थिति अशुभ, क्योंकि उसका बन्ध संक्लेशसे होता है। सारांश यह है कि इन तीनों प्रकृतियोंके सिवाय शेष प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कषायसे बंधती है और जघन्य स्थिति मन्द कषायसे बँधती है, किन्तु इन तीनों प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति मन्द कषायसे और जघन्य स्थिति तीव्र कषायसे बँधती है।

ऊपर बतलाया है कि सब प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कषायसे बँधती है। किन्तु केवल कषायसे ही स्थितिबन्ध नहीं होता, अपितु उसके साथ योग भी रहता है। अतः सब जीवोंमें उस योगके अल्पबहुत्वका विचार करते हैं—

सुहुमनिगोयाइखणप्पजोग बायरयविगलअमणमणा।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु पजहस्सियरो असंखगुणो॥ ५३॥
असमत्ततसुक्कोसो पज्जजहन्नियरु एव ठिइठाणा।
अपजेयर संखगुणा परमपजबिए असंखगुणा॥ ५४॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके प्रथम समयमें सबसे अल्प योग होता है। उससे बादर एकेन्द्रिय, विकलत्रय, असंज्ञी और संज्ञी लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे प्रारम्भके दो लब्ध्यपर्याप्तक अर्थात् सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रियका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है।

उससे दोनों ही पर्याप्तकोंका जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे दोनों ही पर्याप्तकोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। उससे असमाप्त अर्थात् अपर्याप्त त्रसोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। उससे पर्याप्त त्रसोंका जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे पर्याप्त त्रसोंका उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। इसी प्रकार स्थितिस्थान भी अपर्याप्त और पर्याप्तके संख्यातगुणे होते हैं। केवल अपर्याप्त द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असंख्यातगुणे हैं।

भावार्थ—पहले बतलाये गये बन्धके चार भेदोंमेंसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। अतः सामान्यसे बन्धके दो ही मूल कारण कहे जाते हैं—एक योग और दूसरा कषाय। यहाँ 'योग' शब्दसे योगदर्शनका योग नहीं समझना चाहिये। उस योगसे यह योग बिलकुल जुदा है। योगदर्शनमें चित्तकी वृत्तियोंके रोकनेको योग बतलाया है और वह पुरुषके कैवल्यपदकी प्राप्तिमें प्रधान कारण है। किन्तु यह योग एक शक्ति विशेष है, जो कर्मरजको आत्मा तक लाता है।

पञ्चसङ्ग्रहमें इसके नामान्तर बतलाते हुए लिखा है—

"जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा।
सत्ती सामत्थं चिय जोगस्स हवन्ति पज्जाया॥ ३९.६॥"

अर्थात्—योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, ये योगके नामान्तर हैं।

कर्मप्रकृति (बन्धनकरण)में लिखा है—

"परिणामालंबण गहण साहणं तेण लद्धनामतिगं।"

अर्थात्—पुद्गलोंका परिणमन, आलम्बन और ग्रहणके साधन अर्थात् कारणको योग कहते हैं। सारांश यह है कि वीर्यान्तरायकर्मके क्षय, अथवा क्षयोपशमसे आत्मामें जो वीर्य प्रकट होता है, उस वीर्यके द्वारा जीव पहले औदारिक आदि शरीरोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है और

अर्थ—अपर्याप्त जीवोंके प्रति समय असङ्ख्यातगुणे असङ्ख्यातगुणे योगकी वृद्धि होती है। एक एक स्थितिके कारण अध्यवसायस्थान असङ्ख्यातलोक प्रमाण हैं। आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंके अध्यवसायस्थान उत्तरोत्तर अधिक अधिक हैं। तथा, आयुकर्मके अध्यवसायस्थान असङ्ख्यातगुणे हैं।

भावार्थ—योगको स्थितिबन्धका कारण मानकर ग्रन्थकारने स्थितिबन्धका निरूपण करते हुए योगस्थानोंका भी संक्षिप्त वर्णन कर दिया है। संक्षेपका विचार करके ही स्थितिस्थान और स्थितिबन्धके अध्यवसायस्थानके मध्यमें अपर्याप्त जीवोंके योगवृद्धिका निर्देश कर दिया है, जो पाठकको दृष्टिमें कुछ असम्बद्धसा प्रतीत होता है। किन्तु **कर्मप्रकृति** आदि ग्रंथोंमें इसका स्पष्ट वर्णन है। **कर्मप्रकृतिमें**[1] योगस्थानोंका काल बतलाते हुए सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तकके योगस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय बतलाया है और उसमें यह हेतु दिया है कि सभी अपर्याप्त जीवोंके प्रतिसमय असङ्ख्यातगुणे योगकी वृद्धि होती है, अतः उनका जघन्य और उत्कृष्ट काल एक ही समय है, क्योंकि दूसरे समयमें योगस्थान बदल जाता है। इससे यह पता चलता है कि ग्रन्थकार यहाँ यह बतलाना चाहते हैं कि अपर्याप्त जीवोंके योगस्थानोंमें प्रति समय असङ्ख्यातगुणी वृद्धि होती है, किन्तु पर्याप्तजीवोंमें ऐसा नहीं होता। इसीसे अपर्याप्तदशाके योगस्थानोंका काल केवल एक समय है, जबकि पर्याप्त योगस्थानोंका काल दो समयसे लेकर आठ समय तक होता है।

इससे पहलेकी गाथामें स्थितिस्थानोंका प्रमाण बतलाया था। यहाँ बतलाते हैं कि एक एक स्थितिस्थानके कारण अगणित अध्यवसायस्थान होते हैं। अध्यवसायस्थानसे मतलब कषायके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और मन्द, मन्दतर, मन्दतम उदयविशेषसे है। अर्थात् स्थितिबन्धके कारण

---

[1] देखो गाथा १३की टीकाएँ।

गुणो असंख्यातगुणो जानना चाहिये ।

स्थितिबन्धका अधिकारमें सब कर्मोंके अल्पबहुत्वस्थानोंको बतलाकर, अब जिन इकतालीस प्रकृतियोंका पंचेन्द्रियोंके अधिकसे अधिक जितने कालतक बन्ध नहीं होता, उन कालको तथा उन प्रकृतियोंको दो गाथाओं से कहते हैं—

तिरिनरयतिजोयाणं नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥ ५६ ॥
अपढमसंघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगथीणतिगं ।
निय नपु इत्थि दुतीसं पणिंदिसु अबन्धठिइ परमा ॥ ५७ ॥

अर्थ—पञ्चेन्द्रिय जीवोंके तिर्यक्त्रिक (तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी और तिर्यगायु), नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) तथा उद्योत, इन सात प्रकृतियोंका बन्ध अधिकसे अधिक मनुष्यभव सहित चार पल्य अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम कालतक नहीं हो सकता। स्थावरचतुष्क (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण), एकेन्द्रिय जाति, विकलत्रय और आतप, इन नौ प्रकृतियोंका बन्ध अधिकसे अधिक मनुष्यभव सहित चार पल्य अधिक एक सौ पिचासी सागरतक नहीं हो सकता।

अप्रथम संहनन अर्थात् पहले संहननके सिवाय शेष पाँच संहनन, अप्रथम आकृति अर्थात् पहले संस्थानके सिवाय शेष पाँच संस्थान, अप्रशस्त खगति अर्थात् अप्रशस्त विहायोगति, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, दुर्भगत्रिक (दुर्भग, दुःस्वर और अनादेय), स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला प्रचला और स्त्यानर्द्धि), नीचगोत्र, नपुंसकवेद और स्त्रीवेद, इन पचीस प्रकृतियोंका बन्ध अधिकसे अधिक मनुष्यभव सहित एक सौ बत्तीस सागरोपम कालतक नहीं हो सकता।

भावार्थ—इन गाथाओंमें जिन इकतालीस प्रकृतियोंका पञ्चेन्द्रिय

जीवके उत्कृष्ट अबन्धकाल बतलाया है, उनमेंसे सोलह प्रकृतियोंका बन्ध तो मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है और शेष पचीस प्रकृतियां द्वितीय गुणस्थान तक ही बंधती हैं। सारांश यह है कि इन इकतालीस प्रकृतियोंका बन्ध उन्हीं जीवोंके होता है, जो पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें होते हैं। जो जीव इन गुणस्थानोंको छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं उनके उक्त इकतालीस प्रकृतियोंका बन्ध तबतक नहीं हो सकता जबतक वे जीव पुनः उन गुणस्थानोंमें लौटकर नहीं आते। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि दूसरे गुणस्थानसे आगे पञ्चेन्द्रिय जीव ही बढ़ते हैं, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोंके आगेके गुणस्थान नहीं होते हैं। इसीसे उक्त इकतालीस प्रकृतियोंके अबन्धका काल पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षासे ही बतलाया है। अतः जो पञ्चेन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि होजाते हैं, उनके उक्त इकतालीस प्रकृतियोंका बन्ध तबतक नहीं हो सकता, जबतक वे सम्यक्त्वसे च्युत होकर पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें नहीं आते। किन्तु पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें आनेपर भी कभी कभी उक्त प्रकृतियां नहीं बंधती, जैसा कि आगे ज्ञात हो सकेगा। इन्हीं सब बातोंको दृष्टिमें रखकर उक्त प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अबन्धकालको उक्त दो गाथाओंके द्वारा बतलाया है, जिसका खुलासा निम्नप्रकार है—तिर्यञ्चद्विक, नरकद्विक और उद्योत प्रकृतिका उत्कृष्ट अबन्धकाल मनुष्यभवसहित चारपल्य अधिक एकसौ त्रेसठ सागर बतलाया है, जो इसप्रकार है—कोई जीव तीन पल्यकी आयु बांधकर देवकुरु भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ। वहांपर उसके उक्त पांच प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, क्योंकि इन प्रकृतियोंका बन्ध वही कर सकता है, जो तिर्यग्गति या नरकगतिमें जन्म ले सके। किन्तु भोगभूमिज जीव मरकर नियमसे देव ही होते हैं, अतः वे तिर्यग्गति और नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध नहीं करते हैं। अस्तु, भोगभूमिमें सम्यक्त्वको प्राप्त करके वह जीव एक पल्यकी स्थितिवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। सम्यक्त्वके होनेके कारण वहां भी उसके उक्त पांच

प्रकृतियोंका बन्ध नहीं हुआ । उसके बाद देवगतिमें सम्यक्त्वसहित मरण-करके, मनुष्यगतिमें जन्मलेकर, दीक्षाधारण करके, नौवें ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ । उत्पन्न होनेके अन्तमुहूर्तके बाद सम्य-क्त्वका वमन करके वह मिथ्यादृष्टि होगया । मिथ्यादृष्टि होजाने पर भी उस जीवके उक्त सात प्रकृतियोंका बन्ध नहीं हुआ क्योंकि ग्रैवेयकवासी देवोंके उक्त सात प्रकृतियाँ जन्मसे ही नहीं बंधती हैं । वहां मरते समय क्षयोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके मनुष्यगतिमें जन्म लेकर, महाव्रत धारण करके, दो बार विजयादिकमें जन्म लेकर पुनः मनुष्य हुआ । वहाँ अन्त-र्मुहूर्तके लिये सम्यक्त्वसे च्युत होकर तीसरे[1] गुणस्थानमें चला गया । पुनः क्षयोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके तीन बार अच्युत स्वर्गमें जन्म लिया । इस प्रकार ग्रैवेयकके ३१ सागर, विजयादिकमें दो बार जन्म लेनेके कारण वहाँके ६६ सागर और तीन बार अच्युत स्वर्गमें जन्म लेनेसे वहाँके ६६ सागर मिलानेसे १६३ सागर होते हैं। इसमें देवकुरु भोगभूमिकी आयु तीन पल्य, देवगतिकी आयु एक पल्य, इस प्रकार चार पल्य और मिला देना चाहिये । तथा बीच बीचमें जो मनुष्यभव धारण किये हैं, उन्हें भी उसमें

---

१ कर्मशास्त्रियोंके मतसे चतुर्थ गुणस्थानसे च्युत होकर जीव तीसरे गुणस्थानमें आ सकता है । किन्तु सिद्धान्तशास्त्रियोंका मत इसके विरुद्ध है। वे लिखते हैं–

"मिच्छत्ता संकंती अविरुद्धा होई सम्ममीसेसु ।
मीसाउ वा दोसुं सम्मा मिच्छं न उण मीसं ॥११४॥" बृहत्क० भा०।

अर्थात्–'जीव मिथ्यात्व गुणस्थानसे तीसरे और चौथे गुणस्थानमें जा सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है । तथा मिश्र गुणस्थानसे भी पहले और चौथे गुणस्थानमें जा सकता है। किन्तु सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्वमें तो जा सकता है परन्तु मिश्र गुणस्थानमें नहीं जा सकता ।'

उरलि असंखपरट्टा सायठिई पुव्वकोडूणा ॥ ५९ ॥

अर्थ—तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी और नीच गोत्रका निरन्तर बन्धकाल एक समयसे लेकर असंख्यात कालतक जानना चाहिये। आयुकर्मका निरन्तर बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त है। औदारिक शरीरका निरन्तर बन्धकाल असंख्यात पुद्गल परावर्त है, और सातवेदनीयका निरन्तर बन्धकाल कुछ कम एक पूर्वकोटी है।

भावार्थ—तिर्यञ्चद्विक और नीचगोत्र जघन्यसे एक समयतक बंधते हैं, क्योंकि दूसरे समयमें उनकी विपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध हो सकता है। किन्तु जब कोई जीव तेजस्काय या वायुकायमें जन्मलेता है, तो उसके तिर्यग्द्विक और नीच गोत्रका बन्ध तबतक बराबर होता रहता है, जबतक वह जीव उस कायमें ही बना रहता है, क्योंकि तेजस्काय और वायुकायमें तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्चानुपूर्वीके सिवाय किसी दूसरी गति और आनुपूर्वीका बन्ध नहीं होता और न उच्चगोत्रका ही बन्ध होता है। तेजस्काय और वायुकायमें जन्मलेने वाला जीव असंख्यात लोकाकाशोंके जितने प्रदेश होते हैं, अधिकसे अधिक उतने समयतक बराबर तेजस्काय या वायुकायमें ही जन्मलेता रहता है, अतः उक्त तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल असंख्यात समय अर्थात् असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी बतलाया है।

आयुकर्मकी चारों प्रकृतियोंका जघन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त है, अन्तर्मुहूर्तके बाद उसका बन्ध रुक जाता है। क्योंकि आयुकर्मका बन्ध एक भवमें एक ही बार होता है और वह अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त तक होता रहता है।

औदारिक शरीर नामकर्मका जघन्य बन्धकाल एक समय और उत्कृष्ट बन्धकाल असंख्यात पुद्गलपरावर्त है। क्योंकि जीव एक समयतक औदारिक शरीरका बन्धकरके दूसरे समयमें उसके विपक्षी वैक्रियशरीर वगैरहका

बत्तीसं सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे ॥ ६० ॥

अर्थ—पराघात, उच्छ्वास, पञ्चेन्द्रियजाति और त्रसचतुष्कका उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल एक सौ पिचासी सागर है। तथा, प्रशस्त विहायोगति, पुरुषवेद, सुभगत्रिक, उच्चगोत्र और समचतुरस्रसंस्थानका उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर है।

भावार्थ—पराघात आदि सात प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल कमसे कम एक समय है; क्योंकि ये प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं, अतः एक समयके बाद इनकी विपक्षी प्रकृतियाँ इनका स्थान ले लेती हैं, तथा, इनका उत्कृष्ट बन्धकाल चार पल्य अधिक एकसौ पिचासी सागर है। यद्यपि गाथामें केवल एकसौ पिचासी सागर ही लिखा है, तथापि चार पल्य और भी समझना चाहिये; क्योंकि इनकी विपक्षी प्रकृतियोंका जितना अबन्धकाल होता है, उतना ही इनका बन्धकाल होता है। पहले गाथा ५९में इनकी विपक्षी स्थावर चतुष्क वगैरह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अबन्धकाल चार पल्य अधिक एकसौ पिचासी सागर बतला आये हैं, अतः इनका बन्धकाल भी

---

१ 'इह च 'सचतुःपल्यम्' इति अनिर्देशेऽपि 'सचतुःपल्यम्' इति व्याख्यानं कार्यम्। यतो यावानतेद्विपक्षस्याबन्धकालस्तावानेवासां बन्धकाल इति। पञ्चसङ्ग्रहादौ च उपलक्षणादिना केनचित् कारणेन यन्नोक्तं तदभिप्रायं न विद्म इति। पञ्चमकर्मग्रन्थकी स्वो० टी० पृ० ६०।

अर्थ–'यहाँ चार पल्य सहित' नहीं कहा है, फिर भी 'चारपल्य सहित' ऐसा अर्थ करना चाहिये। क्योंकि जितना इनके विपक्षी प्रकृतियोंका बन्धकाल है उतना ही इनका बन्धकाल है। पञ्चसङ्ग्रह वगैरहमें उपलक्षण वगैरह किसी कारणसे जो चारपल्य अधिक नहीं कहा है, उसका आशय हम नहीं जानते हैं।'

पञ्चसङ्ग्रहमें गा० ३००–३०३ में प्रकृतियोंका बन्धकाल बतलाया है।

मझना चाहिये, क्योंकि उनके अबन्धकालमें इनका बन्ध होता
पिचासी सागरका बन्धकाल भी स्थावर चतुष्क आदि प्रकृतियोंके
की ही तरह समझना चाहिये । अर्थात् कोई जीव बाईस सागर
थतिबन्ध करके छठे नरकमें उत्पन्न हुआ । वहाँ पराघात आदि
त प्रकृतियोंकी प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध न होनेके कारण उसने
त प्रकृतियों का निरन्तर बन्ध किया । अन्तिम समय सम्यक्त्वको प्राप्त
मनुष्यगतिमें जन्म लिया । वहाँ अणुव्रतोंका पालन करके मरकर
ल्यकी स्थितिवाले देवोंमें जन्म लिया । सम्यक्त्व सहित मरण करके
: मनुष्य हुआ और महाव्रत धारण करके, मरकर, नवम ग्रैवेयकमें इक-
त सागरकी आयु लेकर देव हुआ । वहाँ मिथ्यादृष्टि होकर मरते समय
नः सम्यक्त्वको प्राप्त किया. और मरकर मनुष्य हुआ । वहाँसे तीन बार
नर मरकर अच्युत स्वर्गमें जन्म लिया और इस प्रकार ६६ सागर पूर्ण किये।
अन्तर्मुहूर्तके लिये तीसरे गुणस्थानमें आया, और उसके बाद पुनः सम्यक्त्व
प्राप्त किया और दो बार विजयादिकमें जन्म लेकर दूसरी बार ६६ सागर
पूर्ण किये । इस प्रकार छठे नरक वगैरहमें भ्रमण करते हुए जीवके कहीं
जन्मसे और कहीं सम्यक्त्वके माहात्म्यसे पराघात आदि प्रकृतियोंका
निरन्तरबन्ध होता रहता है ।

इस प्रकार प्रशस्तविहायोगति वगैरहका जघन्य बन्धकाल एक समय[2]

---

१ पञ्चसंग्रहमें ये चार पल्य नहीं लिये गये हैं। वहाँ मनुष्यगतिसे एक
दम ग्रैवेयकमें जन्म माना है। प्रथ० भा० पृ० २५८।

२ पञ्चसंग्रहकी स्वोपज्ञ टीकामें (प्रथ० भा० पृ० २५९) इन प्रकृतियों
का निरन्तर बन्धकाल तीन पल्य अधिक एकसौ बत्तीस सागर बतलाया है।
उसमें लिखा है कि तीन पल्यकी आयुवाला तिर्यंच अथवा मनुष्य भवके
अन्तमें सम्यक्त्वको प्राप्त करके पहले बतलाये हुए क्रमसे १३२ सागर तक
संसारमें भ्रमण करता है।

है और उत्कृष्ट बन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर है । क्योंकि गाथा ५७में इनकी विपक्षी प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अबन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर बतलाया है, अतः इनका बन्धकाल भी उसी क्रमसे उतना ही समझना चाहिये ॥

असु-खगइ-जाइ-आगिइ-संघयणा-हार-नरय-जोयदुगं ।
थिर-सुभ-जस-थावरदस-नपु-इत्थी-दुजुयल-मसायं ॥ ६१ ॥
समयादंतमुहुत्तं मणुदुग-जिण-वइर-उरलवंगेसु ।
तित्तीसयरा परमा अंतमुहु लहू वि आउजिणे ॥ ६२ ॥

अर्थ—अप्रशस्त विहायोगति, अशुभजाति अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, अशुभ संहनन अर्थात् ऋषभनाराच आदि अन्तके पाँच संहनन, अशुभ आकृति अर्थात् न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान वगैरह अन्तके पाँच संस्थान, आहारकद्विक, नरकद्विक, उद्योतद्विक, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति, स्थावर आदि दस, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, दो युगल अर्थात् हास्य रति और शोक अरति, तथा असातवेदनीय, इन इकतालीस प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल एक समयसे लेकर अन्तमुहूर्त पर्यन्त है । मनुष्यद्विक, तीर्थङ्कर नाम, वज्रऋषभनाराच संहनन और औदारिक अङ्गोपाङ्गका उत्कृष्ट बन्धकाल ३३ सागर है । तथा, आयुकर्म और तीर्थङ्कर नामका जघन्य बन्धकाल भी अन्तर्मुहूर्त है ।

भावार्थ—अप्रशस्त विहायोगति आदि इकतालीस प्रकृतियोंका निरन्तर बन्धकाल कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त बतलाया है । ये प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं अतः अपनी अपनी विरोधी प्रकृतिके बन्धकी सामग्रीके होनेपर अन्तर्मुहूर्तके बाद इनका बन्ध रुक जाता है । इनमेंसे सात वेदनीय, रति, हास्य, स्थिर, शुभ और यशःकीर्तिकी विरोधिनी असात वेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिका बन्ध छठे गुणस्थान तक होता है, अतः वहाँ तक तो इनका निरन्तरबन्ध अन्त-

है। किन्तु उसके बादके गुणस्थानोंमें भी उनका बन्धकाल
ही है, क्योंकि उन गुणस्थानोंका काल अन्तर्मुहूर्त ही है।
मनुष्यानुपूर्वी, तीर्थङ्करनाम, वज्रऋषभनाराचसंहनन
अङ्गोपाङ्गका निरन्तर बन्धकाल अधिकसे अधिक तेतीस
ा है: क्योंकि अनुत्तरवासी देवके मनुष्यगतिके योग्य
ही बन्ध होता है, अतः वह अपने जन्म समयसे लेकर तेतीस
ायु तक उक्त प्रकृतियोंके विरोधी नरकद्विक, तिर्यञ्चद्विक, देव-
यद्विक और पाँच अशुभ संहननोंका बन्ध नहीं करता। तथा तीर्थ-
की कोई विरोधिनी प्रकृति नहीं है, इसलिये वह भी तेतीस सागर
र बंधती रहती है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि इन
कृतियोंमेंसे तीर्थङ्कर प्रकृतिके सिवाय शेष चार प्रकृतियोंका जघन्य
ल एक समय है क्योंकि उन प्रकृतियोंकी विरोधिनी प्रकृतियाँ भी हैं।
ऊपर बताया गया है कि अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियोंका जघन्य बन्धकाल
समय है। इस परसे यह आशङ्का हो सकती है कि क्या सभी अध्रुवबन्धिनी
ृतियोंका जघन्य बन्धकाल एक समय है? उसका समाधान करनेके लिये
न्थकारने लिखा है कि चारों आयुकर्म और तीर्थङ्कर नामकर्मका जघन्य
बन्धकाल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। अर्थात् अप्रशस्त विहायोगति वगैरह
इकतालीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट बन्धकाल ही अन्तर्मुहूर्त नहीं है किन्तु आयु
वगैरहका जघन्य बन्धकाल भी अन्तर्मुहूर्त है। इस प्रकार अध्रुवबन्धिनी
होने पर भी इनके जघन्य बन्धकालमें अन्तर है। आयुकर्मके बन्धकालके
बारेमें तो पहले ही लिख आये हैं कि एक भवमें केवल एक बार ही आयुका
बन्ध होता है और वह भी अन्तर्मुहूर्तके लिये ही होता है। तीर्थङ्कर प्रकृति
का जघन्य बन्धकाल इस प्रकार घटित होता है—कोई जीव तीर्थङ्कर प्रकृतिका
बन्ध करके उपशमश्रेणि चढ़ा। वहाँ नववें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थानमें
उसने तीर्थङ्करका बन्ध नहीं किया, क्योंकि तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धका निरोध

प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध होता है। इसी बातको दूसरी रीतिसे यदि और भी स्पष्टरूपसे कहा जाये तो कहना होगा कि संक्लेश परिणामोंकी वृद्धि और विशुद्ध परिणामोंकी हानि होनेसे क्रमसे अशुभ प्रकृतियोंका तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्ततीव्र अनुभाग बन्ध होता है, और क्रमसे शुभ प्रकृतियोंका मन्द, मन्दतर मन्दतम और अत्यन्तमन्द अनुभागबन्ध होता है। तथा, संक्लेश परिणामोंकी मन्दता और विशुद्ध परिणामोंकी वृद्धि होनेसे क्रमसे शुभप्रकृतियोंका तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्ततीव्र अनुभागबन्ध होता है, और क्रमसे पाप प्रकृतियोंका मन्द, मन्दतर मन्दतम और अत्यन्तमन्द अनुभागबन्ध होता है। इन चारों प्रकारोंको क्रमशः एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक कहा जाता है। अर्थात् एकस्थानिकसे तीव्र द्विस्थानिकसे तीव्रतर त्रिस्थानिकसे तीव्रतम और चतुःस्थानिकसे अत्यन्ततीव्रका ग्रहण किया जाता है। सारांश यह है कि रसके असंख्य प्रकार हैं और उन सबका समावेश उक्त चार प्रकारोंमें होजाता है। अर्थात् एक एकमें असंख्य असंख्य प्रकार जानने चाहियें।

अब तीव्र और मन्द अनुभागबन्धके उक्त चार चार भेद जिन कारणोंसे होते हैं, उन कारणोंका निर्देश करते हैं—

गिरिमहिरयजलरेहासरिस[1]कसाएहिं ॥ ६३ ॥
चउठाणाई असुहा सुहन्नहा विग्घदेस[2]घाइआवरणा ।
पुमसंजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥ ६४ ॥ [3]

१–सरिक–ख० पु०।   २–देसघाय–ख० पु०।

३ 'आवरणमसव्वग्घं पुंसंजलणंतरायपयडीओ। चउठाणपरिणयाओ दुतिचउठाणाउ सेसाओ ॥१४८॥' पञ्चसं०

अर्थ–ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी देशघाती प्रकृतियां, पुरुषवेद,

अर्थ—अशुभ प्रकृतियोंमें पर्वतकी रेखाके समान अनन्तानुबन्धी कषायसे चतुःस्थानिक अनुभागबन्ध होता है, पृथ्वीकी रेखाके समान अप्रत्याख्यानावरण कषायसे त्रिस्थानिक अनुभागबन्ध होता है, बालुकी रेखाके समान प्रत्याख्यानावरण कषायसे द्विस्थानिक अनुभागबन्ध होता है, और जलकी रेखाके समान संज्वलन कषायसे एकस्थानिक अनुभागबन्ध होता है। शुभ प्रकृतियोंमें इससे विपरीत जानना चाहिये। अर्थात् बालुकी रेखा और जलकी रेखाके सदृश कषायोंसे चतुःस्थानिक अनुभागबन्ध होता है। पृथ्वीकी रेखाके सदृश कषायसे त्रिस्थानिक अनुभागबन्ध होता है। और पर्वतकी रेखाके सदृश कषायसे द्विस्थानिक अनुभागबन्ध होता है।

पांच अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी सात देशघातिप्रकृतियां, पुरुषवेद, और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सतरह प्रकृतियोंमें चारों ही प्रकारका अनुभागबन्ध होता है। शेष प्रकृतियोंमें द्विस्थानिकसे लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त ही अनुभागबन्ध होता है, एक स्थानरूप अनुभागबन्ध नहीं होता।

भावार्थ—अनुभागबन्धका कारण बतलाते हुए तीव्र और मन्द अनुभागके चार चार प्रकार बतलाये थे। यहां उनका कारण बतलाया है। अनुभागबन्धका कारण कषाय है और तीव्र तीव्रतरादि तथा मन्द मन्दतरादि भेद अनुभागबन्धके ही हैं, अतः उन भेदोंका कारण भी कषायके ही भेद हैं। कषायके चार भेद प्रसिद्ध हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमेंसे प्रत्येककी चार चार अवस्थाएं होती हैं। अर्थात् क्रोध कषायकी चार अवस्थाएँ होती हैं, मानकषायकी चार अवस्थाएँ होती हैं और माया तथा लोभ कषायकी भी चार चार अवस्थाएँ होती हैं। उन अवस्थाओंका नाम

संज्वलन, और अन्तरायकी पाँच प्रकृतियाँ, इनमें चारोंही प्रकारका परिणमन होता है और शेष प्रकृतियोंमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुस्थानिक परिणमन होता है।

क्रमशः अनन्तानुबन्धीकषाय, अप्रत्याख्यानावरणकषाय, प्रत्याख्यानावरण-
कषाय और संज्वलनकषाय हैं। शास्त्रकारोंने इन चारों कषायोंकी चार
उपमाएँ दी हैं। अनन्तानुबन्धी कषायकी उपमा पर्वतकी रेखासे दी जाती
है। जैसे, पर्वतमें जो दरार पड़ जाती है वह सैकड़ों वर्ष बीतजानेपर भी
नहीं मिटती, वैसे ही अनन्तानुबन्धी कषायकी वासना भी असंख्य भवोंतक
बनी रहती है। इस कषायका उदय होनेसे जीवके परिणाम अत्यन्त संक्लिष्ट
होते हैं, और वह पापप्रकृतियोंका अत्यन्त कटुकरूप चतुःस्थानिक रसबन्ध
करता है, किन्तु शुभ प्रकृतियोंमें केवल मधुरतररूप द्विस्थानिक ही रसबन्ध
करता है, क्योंकि शुभ प्रकृतियोंमें एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता।

अप्रत्याख्यानावरण कषायको पृथ्वीकी रेखाकी उपमा दी जाती है।
अर्थात् तालाबमें पानीके सूखजानेपर जमीनमें जो दरारें पड़ जाती हैं,
उनके समान अप्रत्याख्यानावरण कषाय होती है। जैसे वे दरारें समय
पाकर पुर जाती हैं, उसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कषायकी वासना भी
अपने समयपर शान्त होजाती है। इस कषायका उदय होनेपर अशुभ
प्रकृतियोंमें भी त्रिस्थानिक रसबन्ध होता है और शुभप्रकृतियोंमें भी
त्रिस्थानिक रसबन्ध होता है। अर्थात् कटुकतम और मधुरतम ही अनु-
भागबन्ध होता है।

प्रत्याख्यानावरण कषायको बालू या धूलिकी लकीरकी उपमा दी
जाती है। जैसे बालूमें की लकीर स्थायी नहीं होती, जल्दी ही पुर जाती है
उसी तरह प्रत्याख्यानावरण कषायकी वासना भी अधिक समय तक नहीं
रहती है। इस कषायका उदय होनेपर पाप प्रकृतियोंमें द्विस्थानिक अर्थात्
कटुकतर तथा पुण्यप्रकृतियोंमें चतुःस्थानिक रसबन्ध होता है।

संज्वलन कषायकी उपमा जलकी रेखासे दी जाती है। जैसे जलमें
इधर रेखा खींची जाती है तो उधर साथके साथ ही वह स्वयं मिटती जाती
है। उसी प्रकार संज्वलन कषायकी वासना अन्तर्मुहूर्तमें ही नष्ट हो जाती

निंबुच्छुरसो सहजो दुतिचउभाग कढिइक्कभागंतो ।
इगठाणाई असुहो असुहाण सुहो सुहाणं तु ॥ ६५ ॥

अर्थ—जैसे नीमका रस कडुआ और ईखका रस मीठा होता है, वैसे ही अशुभ प्रकृतियोंका रस अशुभ और शुभ प्रकृतियोंका रस शुभ होता है। तथा, जैसे नीम और ईखके रसमें स्वाभाविक रीतिसे एकस्थानिक ही रस रहता है, अर्थात् उनमें नम्बर एक की ही कटुकता और मधुरता रहती है किन्तु आग पर रख कर उसका क्वाथ करने पर उनमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रस हो जाता है, अर्थात् पहलेसे दुगुना, तिगुना और चौगुना कडुवापन और मिठास आ जाता है। उसी प्रकार अशुभ प्रकृतियोंमें संक्लेश के बढ़नेसे अशुभ, अशुभतर, अशुभतम और अत्यन्त अशुभ, तथा शुभ प्रकृतियोंमें विशुद्धिके बढ़नेसे शुभ, शुभतर, शुभतम और अत्यन्तशुभ रस पाया जाता है।

भावार्थ—पहले जो अनुभागबन्धके एकस्थानिक द्विस्थानिक आदि चार भेद बतलाये थे, इस गाथामें उन्हींका स्पष्टीकरण किया है, और उन्हें समझानेके लिये अशुभ प्रकृतियोंके रसकी उपमा नीमके रससे और शुभ प्रकृतियोंके रसकी उपमा ईखके रससे दी है। जैसे नीमका रस कडुआ होता है और पीनेवालेके मुखको एकदम कडुआ कर देता है, उसी प्रकार अशुभ प्रकृतियोंका रस भी अनिष्टकारक और दुःखदायक होता है। तथा, जैसे ईखका रस मीठा और आनन्ददायक होता है उसी तरह शुभ प्रकृ-

---

१ 'घोसाडइनिंबुवमो असुभाण सुभाण खीरखंडुवमो ।

घाती हैं। किन्तु देशघातिप्रकृतियोंके कुछ स्पर्द्धक सर्वघाती होते हैं और कुछ स्पर्द्धक देशघाती होते हैं। यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि जो स्पर्द्धक[1] त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रसवाले होते हैं वे नियमसे सर्वघाती होते हैं, जो स्पर्द्धक द्विस्थानिक रसवाले होते हैं वे देशघाती[2] भी होते हैं, और सर्वघाती भी होते हैं, किन्तु एकस्थानिक रसवाले स्पर्द्धक देशघाती

---

१ 'चउतिट्ठाणरसाइं सव्वविघाइणि होंति फड्डाइं।
दुट्ठाणियाणि मीसाणि देसवाईणि सेसाणि ॥१४६॥' पञ्चसं०।

अर्थात्–'चतुःस्थानिक और त्रिस्थानिक रसवाले स्पर्द्धक सर्वघाती होते हैं। द्विस्थानिक रसवाले स्पर्द्धक सर्वघाती भी होते हैं और देशघाती भी होते हैं। तथा शेष एकस्थानिक रसवाले स्पर्द्धक देशघाती ही होते हैं।'

२ गोमट्टसार कर्मकाण्डमें अनुभागबन्धका वर्णन करते हुए घातिकर्मोंकी शक्तिके चार विभाग किये हैं–लता, दारु, अस्थि और पत्थर। जैसे ये चारों पदार्थ उत्तरोत्तर अधिक अधिक कठोर होते हैं उसी प्रकार कर्मोंकी शक्ति भी समझनी चाहिये। इन चारों विभागोंको कर्मग्रन्थके अनुसार क्रमशः एकस्थानिक द्विस्थानिक आदि नाम दिये जा सकते हैं। इनमेंसे लताभाग तो देशघाती ही है। दारुभागका अनन्तवां भाग देशघाती है और शेष बहुभाग सर्वघाती है। तथा, अस्थि और पत्थर भाग सर्वघाती ही है। यह तो हुआ घातिकर्मोंकी शक्तिका विभाजन। अघातिकर्मोंके पुण्य और पापरूप दो विभाग करके पुण्य प्रकृतियोंमें गुड़, खांड, शक्कर और अमृत रूप चार विभाग किये हैं, और पापप्रकृतियोंमें नीम, कंजीर, विष और हालाहल, इस तरह चार विभाग किये हैं। इन विभागोंको भी क्रमशः एकस्थानिक द्विस्थानिक आदि नाम दिया जा सकता है। पञ्च० कर्मग्रन्थकी ६४ वीं गाथाकी की तरह कर्मकाण्ड (गा० १८२) में भी सत्तरह प्रकृतियोंमें चारों प्रकारका और शेष प्रकृतियोंमें तीन ही प्रकारका परिणमन बतलाया है।

हो होते हैं।

अनुभागबन्धका वर्णन करके, अब उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामीको बतलाते हैं—

तिविगथावरायव सुरमिच्छा विगलसुहुमनिरयतिगं।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया ॥ ६६ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर और आतप प्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। विकलत्रय, सूक्ष्म आदि तीन, नरकत्रिक तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च करते हैं। तथा, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, और सेवार्त संहननका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते हैं।

भावार्थ—अनुभागबन्धका स्वरूप बतलाकर अनुभागबन्धके स्वामियोंको बतलाते हैं। एकेन्द्रिय जाति आदि तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं, ऐसा गाथामें लिखा है। किन्तु यहां ईशान स्वर्गतकके देवोंका ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि ईशान स्वर्गतकके ही देव मरकर एकेन्द्रिय पर्यायमें जन्म लेसकते हैं, उससे ऊपरके देव एकेन्द्रिय पर्याय धारण नहीं कर सकते।

शङ्का—मिथ्यादृष्टि देव ही इनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्यों करते हैं?

उत्तर—नारक तो मरकर एकेन्द्रिय पर्यायमें जन्म ही नहीं लेते, अतः उनके उक्त प्रकृतियोंका बन्ध ही नहीं होता है। तथा, आतप प्रकृतिके उत्कृष्ट अनुभागबन्धके लिये जितनी विशुद्धिकी आवश्यकता है, उतनी विशुद्धिके होनेपर मनुष्य और तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चमें जन्म लेनेके योग्य अन्य शुभ प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं, और एकेन्द्रिय तथा स्थावर प्रकृतिके उत्कृष्ट अनुभागबन्धके लिये जितने संक्लेशपरिणामोंकी आवश्यकता है, उतने संक्लेशके होनेपर वे नरकगतिके योग्य अशुभ प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं। किन्तु देवगतिमें उत्कृष्ट संक्लेशके होनेपर भी नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका

अशुभप्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामोंसे होता है और शुभप्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध संक्लेश परिणामोंसे होता है। इस गाथामें जिन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध बतलाया है वे सब अशुभ-प्रकृतियां हैं, अतः उनका जघन्य अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामोंसे होता है। इसीसे उनके बन्ध करनेवालोंको 'संयमके अभिमुख' बतलाया है। यद्यपि गाथामें **'संजमुम्मुहो'** पद दिया है, जो प्रत्येकके साथ लगाया जाता है और जिसका शब्दार्थ 'संयम अर्थात् संयम धारण करनेके उन्मुख' होता है। अर्थात् जो जीव दूसरे समयमें ही संयम धारण कर लेगा, उसके अपने अपने गुणस्थानके अन्तिम समयमें उक्त प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। तथापि यहां संयमका अर्थ प्रत्येक गुणस्थानवाले के लिये पृथक् पृथक् लिया गया है। जो इस प्रकार है—स्त्यानर्द्धित्रिक[1]

---

१ पञ्चम कर्मग्रन्थकी टीकामें लिखा है-'संजमुम्मुहु'त्ति सम्यक्त्व-संयमाभिमुखः सम्यक्त्वसामायिकं प्रतिपित्सुः......। अप्रत्याख्यानावरण लक्षणस्य...अविरतसम्यग्दृष्टिः...संयमाभिमुखः-देशविरतिसामयिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं बध्नाति। तथा तृतीयकषायचतुष्टयस्य...देशविरतः... संयमोन्मुखः-सर्वविरतिसामायिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं बध्नाति। तथा... प्रमत्तयतिः संयमोन्मुखः-अप्रमत्तसंयमं प्रतिपित्सुः......।' पृ० ७१।

जैन श्रेयस्कर मण्डल म्हेसाणाकी ओर से पञ्चमकर्मग्रन्थका जो गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ है, उसमें भी ऐसाही अर्थ किया है। यथा—'ए आठ प्रकृति सम्यक्त्व चारित्र पामवाने सन्मुख एवो मिथ्यात्वी जीव मंदरसे बांधे।... बीजा अप्रत्याख्यानीयकषाय अविरतसम्यग्दृष्टि पोताना गुणठाणाने अन्त्य समये देशविरति पामवाने सन्मुख थको मंदरसे बांधे। तथा त्रीजा प्रत्याख्यानीय चार कषायनो मंदरस ते देशविरति पोताना गुणठाणाने अंत्य समय वर्त्ततो सर्वविरति पामवाने सन्मुख थको

आदि आठ प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध सम्यक्त्व संयमके अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव अपने गुणस्थानके अन्त समयमें करता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध संयम अर्थात् देशविरत संयमके अभिमुख अविरतसम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणस्थानके अन्त समयमें करता है। प्रत्याख्यानावरण कषायका जघन्य अनुभागबन्ध संयम अर्थात् महाव्रत धारण करनेके सन्मुख देशविरत गुणस्थानवाला जीव अपने गुणस्थानके अन्त समयमें करता है। और अरति तथा शोकका जघन्य अनुभागबन्ध संयम अर्थात् अप्रमत्त संयमके अभिमुख प्रमत्तमुनि अपने गुणस्थानके अन्तमें करता है। सारांश यह है कि जब पहले गुणस्थानवाला जीव चौथे गुणस्थानमें जाता है, चौथे गुणस्थानवाला पांचवें गुणस्थानमें जाता है, पांचवे गुणस्थानवाला और छट्ठे गुणस्थानवाला सातवें गुणस्थानमें जाता है, तो आगे आगेका गुणस्थान प्राप्त करनेके पहले समयमें उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। यहां इतना और भी समझ लेना चाहिये, कि यदि पहले गुणस्थानका जीव चौथे गुणस्थानमें न जाकर पांचवे या

सन्मुख थको बांधे। तथा अरति...मन्दरस प्रमत्तसाधु अप्रमत्तपणानो सन्मुख थको बांधे।' पृ० १०९।

इससे स्पष्ट है कि कर्मग्रन्थके टीकाकार ने 'संजमुम्मुहो' का अर्थ प्रत्येकके लिये अलग अलग लिया है। किन्तु कर्मप्रकृति पृ० १६० तथा पञ्चसङ्ग्रह प्रथ० भा०, पृ० २४५ में संयमका अर्थ संयम ही किया है। यथा–'अष्टानां कर्मणां सम्यक्त्वं संयमं च युगपत्प्रतिपत्तुकामो मिथ्यादृष्टिश्चरमसमये जघन्यानुभागबन्धस्वामी, अप्रत्याख्यानावरणकषायाणामविरतसम्यग्दृष्टिः संयमं प्रतिपत्तुकामः, प्रत्याख्यानावरणानां देशविरतः सर्वविरतिप्रतिपित्सुर्जघन्यानुभागबन्धं करोति।'

कर्मकाण्ड गा० १७१ में भी 'संजमुम्मुहो' पद आया है। किन्तु टीकाकार ने संयमका अर्थ संयम ही किया है।

एकेन्द्रिय जाति और स्थावर प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध नरकगतिके सिवाय शेष तीन गतियोंके परावर्तमान मध्यम परिणामवाले जीव करते हैं। ये दोनों प्रकृतियां अशुभ हैं, अतः अतिसंक्लिष्ट जीव उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है, और अतिविशुद्ध जीव इनको छोड़कर पञ्चेन्द्रिय जाति और त्रसनामकर्मका बन्ध करता है। इसलिये मध्यम परिणाम का ग्रहण किया है। प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें एकेन्द्रियजाति और स्थावर नामका बंध करके जब दूसरे अन्तर्मुहूर्तमें भी उन्हीं प्रकृतियोंका बन्ध करता है, तब भी वह मध्यम परिणाम रहता है। किन्तु उस समय उस अवस्थित परिणाममें उतनी विशुद्धि नहीं रहती है, अतः परावर्तमान मध्यम परिणामका ग्रहण किया है। सारांश यह है कि जब एकेन्द्रिय जाति और स्थावरनामका बन्ध करके पञ्चेन्द्रिय जाति और त्रसनामका बन्ध करता है और उनका बन्ध करके पुनः एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामका बन्ध करता है, तब इसप्रकारका परिवर्तन करके बन्ध करनेवाला परावर्तमान मध्यमपरिणामवाला जीव अपने योग्य विशुद्धिके होनेपर उक्त दो प्रकृतियोंका जघन्य अनुभाग बन्ध करता है।

आतप प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध ईशान स्वर्गतकके देवोंके बतलाया है। गाथामें यद्यपि 'आसुहुम' पाठ है और उसका अर्थ 'सौधर्म स्वर्गतक' होता है, तथापि सौधर्म और ईशान स्वर्ग एक ही श्रेणीमें वर्तमान हैं अतः सौधर्मके ग्रहणसे ईशानका भी ग्रहण किया गया है। क्योंकि भवनपतिसे लेकर ईशान स्वर्गतकके देव आतपप्रकृतिके बन्धकोंमें विशेष संक्लिष्ट होते हैं, अतः एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करते समय वे आतप प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। क्योंकि यह प्रकृति शुभ है अतः संक्लिष्ट जीवोंके ही उसका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। तथा, इतने संक्लिष्ट परिणाम यदि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होते हैं तो वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं। और नारक तथा सानत्कुमार आदि

स्वर्गोंके देव जन्मते ही इस प्रकृतिका बन्ध नहीं करते हैं। अतः सबको
छोड़कर ईशान स्वर्गतकके देवोंको ही उसका बन्धक बतलाया है।

सातवेदनीय आदि आठ प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धके स्वामी
परावर्तमान मध्यमपरिणामवाले सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि होते हैं। जिसका
खुलासा इसप्रकार है—प्रमत्तमुनि एक अन्तर्मुहूर्ततक असातवेदनीयकी
अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति बांधता है। अन्तर्मुहूर्तके बाद
वह सातवेदनीयका बन्ध करता है, पुनः असातवेदनीयका बन्ध करता है।
इसप्रकार देशविरत,अविरतसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि, सास्वादनसम्यग्दृष्टि
और मिथ्यादृष्टि जीव साताके बाद असाताका और असाताके बाद साता
का बन्ध करते हैं। उनमेंसे मिथ्यादृष्टि जीव साताके बाद असाताका
और असाताके बाद साताका बन्ध तबतक करता है, जबतक सातवेदनीय
की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोटीकोटी सागर होती है। उसके बाद और भी
संक्लिष्ट परिणाम होनेपर केवल असाताका ही तब तक बन्ध करता है
जबतक उसकी तीस कोटीकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति होती है।
प्रमत्तसे ऊपर अप्रमत्त आदि गुणस्थानवाले जीव केवल सातवेदनीयका
ही बन्ध करते हैं। इस विवरणसे यह स्पष्ट है कि सातवेदनीयके जघन्य
अनुभागबन्धके योग्य परावर्तमान मध्यमपरिणाम सातवेदनीयकी पन्द्रह
कोटीकोटी सागर स्थितिबन्धसे लेकर छट्ठे गुणस्थानमें असातवेदनीयके
अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिबन्ध तक पाये जाते हैं।
सारांश यह है कि परावर्तमान परिणाम तभी तक हो सकते हैं जबतक
प्रतिपक्षी प्रकृतिका बन्ध होता है। अतः जबतक साताके साथ असाताका
भी बन्ध संभव है तभीतक परावर्तमान परिणाम होते हैं। किन्तु सातवेद-
नीयके उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे लेकर आगे जो परिणाम होते हैं वे इतने
संक्लिष्ट होते हैं कि उनसे असातवेदनीयका ही बन्ध हो सकता है। तथा
छट्ठे गुणस्थानके अन्तमें असातवेदनीयकी बन्धव्युच्छित्ति हो जानेके

कारण उसके आगे विशुद्धिसे केवल सातवेदनीयका ही बन्ध होता है। अतः दोनोंके बीचमें ही इसप्रकारके परिणाम होते हैं जिनसे उनका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। इसीलिये सातवेदनीय और असातवेदनीयके जघन्य अनुभागबन्धका स्वामी परावर्तमान मध्यमपरिणामवाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवोंको बतलाया है।

अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटीकोटी सागर बतलाई है और स्थिर, शुभ और यशःकीर्तिकी उत्कृष्ट स्थिति दस कोटीकोटी सागर बतलाई है। प्रमत्तमुनि अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्तिकी अन्तःकोटीकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिको बांधता है। फिर विशुद्धिकी वजहसे उनकी प्रतिपक्षी स्थिरादिक प्रकृतियोंका बन्ध करता है। उसके बाद पुनः अस्थिरादिकका बन्ध करता है। इसीप्रकार देशविरत, अविरत सम्यग्दृष्टि,सम्यग्मिथ्यादृष्टि,सास्वादन और मिथ्यादृष्टि जीव स्थिरादिकके बाद अस्थिरादिकका और अस्थिरादिकके बाद स्थिरादिकका बंध करते हैं। उनमेंसे मिथ्यादृष्टि इन प्रकृतियोंका उक्त प्रकारसे तबतक बंध करता है जबतक स्थिरादिकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके योग्य इन स्थितिबन्धोंमें ही उक्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें स्थिरादिकके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके पश्चात् तो अस्थिरादिकका ही बन्ध होता है और अप्रमत्तादिक गुणस्थानोंमें स्थिरादिकका ही बन्ध होता है। पहलेमें संक्लेश परिणामोंकी अधिकता है और दूसरेमें विशुद्धपरिणामोंकी अधिकता है। अतः दोनों हीमें रसबन्ध अधिक मात्रामें होता है। इसलिये इन दोनोंके सिवाय ऊपर बतलाये गये शेष स्थानोंमें ही उक्त प्रकृतियों का जघन्य रसबन्ध होता है। इसप्रकार गाथामें बतलाई गई प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंका विवरण जानना चाहिये।

शेष ७३ अध्रुवबन्धिप्रकृतियोंके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्धके सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं। क्योंकि अध्रुवबन्धी होनेके कारण इन प्रकृतियोंका बन्ध सादि और अध्रुव ही होता है, अतः उनका जघन्यादिरूप अनुभागबन्ध भी सादि और अध्रुव ही होता है।

घातिकर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायका अजघन्य अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है। जो इस प्रकार है—अशुभ प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध और शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध वही जीव करता है जो उनके बन्धकोंमें सबसे विशुद्ध होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय अशुभ हैं, अतः उनका जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्त समयमें होता है। मोहनीयकर्मका बन्ध नवें गुणस्थान तक होता है, अतः क्षपक अनिवृत्तिबादर गुणस्थानके अन्तमें उसका जघन्य अनुभागबन्ध होता है, क्योंकि मोहनीयके बन्धकोंमें यही सबसे विशुद्ध स्थान है। इन गुणस्थानोंके सिवाय शेष सभी स्थानोंमें उक्त चारों कर्मोंका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। ग्यारहवें और दसवें गुणस्थानमें उक्त चारों कर्मोंका बन्ध न करके, वहाँसे गिरकर जब पुनः उनका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है, तब वह बन्ध सादि है। जो जीव नवें दसवें आदि गुणस्थानोंमें कभी नहीं आये हैं, उनका अजघन्य बन्ध अनादि है, क्योंकि अनादिकालसे उसका विच्छेद नहीं हुआ है। अभव्यका बन्ध ध्रुव है और भव्यका बन्ध अध्रुव है। इस प्रकार घातिकर्मोंका अजघन्य अनुभागबन्ध चार प्रकारका होता है, और शेष तीन-जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धके सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं, जो इसप्रकार हैं—

पहले बतला आये हैं कि मोहनीयका जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें होता है और शेष तीन कर्मोंका जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समयमें होता है।

२० प्रदेशबन्धद्वार

वर्गणा कहते हैं। किन्तु अभव्यजीवोंकी राशिसे अनन्तगुणे और सिद्ध जीवोंकी राशिके अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणुओंसे जो स्कन्ध बनते हैं, अर्थात् जिन स्कन्धोंमें इतने इतने परमाणु होते हैं, वे स्कन्ध जीवके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य होते हैं, जीव उन्हें ग्रहण करके अपने औदारिक शरीर-रूप परिणमाता है। इसलिये उन स्कन्धोंको औदारिक वर्गणा कहते हैं। किन्तु औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणाओंमें यह वर्गणा सबसे जघन्य होती है, इसके ऊपर एक एक परमाणु बढ़ते स्कन्धोंकी पहली,दूसरी,तीसरी, चौथी, पांचवीं आदि अनन्त वर्गणाएं औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य होती हैं। अतः औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणासे अनन्तवें भाग अधिक परमाणुवाली औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस अनन्तवें भागमें अनन्त परमाणु होते हैं। अतः जघन्य वर्गणासे लेकर उत्कृष्ट वर्गणापर्यन्त अनन्त वर्गणाएं औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जानना चाहिये।

औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट वर्गणासे ऊपर एक एक परमाणु बढ़ते स्कन्धोंकी जो वर्गणाएं होती हैं, वे वर्गणाएं एक तो औदारिक शरीरकी अपेक्षासे अधिक प्रदेशवाली होती हैं, दूसरे सूक्ष्म भी होती हैं, अतः औदारिक शरीरके ग्रहण योग्य नहीं होतीं। तथा जिन स्कन्धोंसे वैक्रिय शरीर बनता है उन स्कन्धोंकी अपेक्षासे अल्प प्रदेशवाली और स्थूल होती हैं, अतः वैक्रिय शरीरके भी ग्रहणयोग्य नहीं होतीं। इसप्रकार औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट वर्गणाके ऊपर एक एक परमाणु बढ़ते स्कन्धोंकी अनन्त वर्गणाएं अग्रहण योग्य होती हैं। [illegible] औदारिक शरीरके [illegible] अधिक है। इसीप्रकार अग्रहण योग्य जघन्य [illegible] अनन्तगुणी (अभव्यराशिसे अनन्तगुणे [illegible] वर्गणासे अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा [illegible] परमाणुओंकी) जानना चाहिये। इस [illegible] अनन्त [illegible] है, सब [illegible] अनन्तगुणा और सिद्धराशिका अनन्तवां भाग है।

२० प्रदेशबन्धद्वार

[८१]

शङ्का—यहां पर, बंधनेवाली प्रकृतियोंमें ही विभागका क्रम बतलाया । किन्तु जब अपने अपने गुणस्थानमें किन्हीं प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होजाता है, तो उन प्रकृतियोंके भागका क्या होता है ?

उत्तर—जिन प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होजाता है, उनका भाग उनकी सजातीय प्रकृतियोंमें ही विभाजित होजाता है। यदि सभी सजातीय प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद हो जाता है तो उनके हिस्सेका द्रव्य उनकी मूलप्रकृतिके ही अन्तर्गत जो विजातीय प्रकृतियां हैं, उनको मिलता है । यदि उन विजातीय प्रकृतियोंका भी बन्ध रुक जाता है, तो उस मूल प्रकृति-

---

संहननमें–५–आदिके पांच संहननोंका द्रव्य बराबर बराबर किन्तु सबसे थोड़ा है, उससे ६–सेवार्त का अधिक है ।

वर्णमें–१–कृष्णका सबसे कम, और २–नील, ३–लोहित, ४–पीत तथा ५–शुक्ल का एकसे दूसरे का उत्तरोत्तर अधिक भाग है ।

गन्धमें–१–सुगन्ध का कम और २–दुर्गन्ध का उससे अधिक भाग है ।

रसमें–१–कटुक रसका सबसे कम और २–तिक्त, ३–कषैला, ४–खट्टा और ५–मधुरका उत्तरोत्तर एकसे दूसरे का अधिक अधिक भाग है ।

स्पर्शमें–२–कर्कश और गुरु स्पर्शका सबसे कम, ४–मृदु और लघु स्पर्शका उससे अधिक, ६–रूक्ष और शीतका उससे अधिक तथा ८–स्निग्ध और उष्णका उससे अधिक भाग है । चारों युगलोंमें जो दो दो स्पर्श हैं उनका आपसमें बराबर बराबर भाग है ।

आनुपूर्वीमें–१–देवानुपूर्वी और २–नरकानुपूर्वीका भाग सबसे कम किन्तु आपसमें बराबर होता है । उससे ३–मनुष्यानुपूर्वी और ४–तिर्यगानुपूर्वीका क्रमसे अधिक अधिक भाग है ।

त्रसादि बीसमें–त्रसका कम, स्थावरका उससे अधिक । पर्याप्तका कम, अपर्याप्तका उससे अधिक । इसी तरह प्रत्येक साधारण, स्थिर अस्थिर, शुभ अशुभ, सुभग दुर्भग, सुस्वर दुस्वर, और आदेय अनादेयमें भी समझना

को द्रव्य न मिलकर अन्य मूलप्रकृतियोंको मिल जाता है । जैसे, स्त्यानर्द्धि निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचलाके बन्धका विच्छेद होनेपर, उनके हिस्सेका सब द्रव्य उनकी सजातीय प्रकृति निद्रा और प्रचलाको मिलता है । निद्रा और प्रचलाके बन्धका विच्छेद होनेपर उनका द्रव्य अपनी ही मूलप्रकृतिके अन्तर्गत चक्षुदर्शनावरण वगैरह विजातीय प्रकृतियोंको मिलता है । उनके भी बन्धका विच्छेद होनेपर ग्यारहवें आदि गुणस्थानोंमें सब द्रव्य सातवेदनीयका ही होता है । इसी प्रकार अन्य प्रकृतियोंमें भी समझना चाहिये ।

चाहिये । तथा अयशःकीर्तिका सबसे कम और यशःकीर्तिका उससे अधिक भाग है । आतप, उद्योत, प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति, सुस्वर, दुस्वरका परस्परमें बराबर भाग है ।

निर्माण, उच्छ्वास, पराघात, उपघात, अगुरुलघु और तीर्थङ्कर नामका अल्पबहुत्व नहीं होता, क्योंकि अल्पबहुत्वका विचार सजातीय अथवा विरोधी प्रकृतियोंमें ही किया जाता है । जैसे कृष्णनाम कर्मके लिये वर्णनाम कर्मके शेष भेद सजातीय हैं । तथा सुभग और दुर्भग परस्परमें विरोधी हैं । किन्तु उक्त प्रकृतियां न तो सजातीय ही हैं, क्योंकि वे किसी एक ही पिण्डप्रकृतिकी अवान्तर प्रकृतियां नहीं हैं । तथा विरोधी भी नहीं हैं; क्योंकि उनका बन्ध एक साथ भी हो सकता है ।

गोत्रकर्म—में नीच गोत्रका कम उच्च गोत्रका अधिक है ।

अन्तराय—में दानान्तरायका सबसे कम और लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अन्तरायका उत्तरोत्तर अधिक भाग है ।

यह अल्पबहुत्व उत्कृष्ट पदकी अपेक्षासे है ।

जघन्य पदकी अपेक्षासे ज्ञानावरण, और वेदनीयका अल्पबहुत्व पूर्ववत् ही है । दर्शनावरणमें निद्राका सबसे कम, प्रचलाका उससे अधिक, निद्रानिद्राका उससे अधिक, प्रचला प्रचलाका उससे अधिक, स्त्यानर्द्धिका उससे

*सम्मदरसव्वविरई अणविसंजोगदंसखवगे य ।
मोहसमसंतखवगे खीणसजोगियर गुणसेढी ॥ ८२ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन, दर्शनमोहनीयका क्षपक, चारित्रमोहनीयका उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली, ये ग्यारह गुणश्रेणि होती हैं।

भावार्थ—कर्मोंके दलिकोंका वेदन किये बिना उनकी निर्जरा नहीं हो सकती। यद्यपि स्थिति और रसका घात तो बिना ही वेदन किये शुभ परिणाम वगैरहके द्वारा किया जा सकता है, किन्तु दलिकोंकी निर्जरा वेदन किये बिना नहीं हो सकती। यों तो जीव प्रतिसमय कर्मदलिकोंका अनुभवन करता रहता है, अतः कर्मोंकी भोगजन्य निर्जरा, जिसे औपक्रमिक अथवा सविपाक निर्जरा भी कहते हैं, उसके प्रतिसमय होती रहती है। किन्तु इस तरहसे एक तो परिमित कर्मदलिकोंकी ही निर्जरा होती है, दूसरे भोगजन्य निर्जरा नवीन कर्मबन्धका भी कारण है, अतः उसके द्वारा कोई जीव कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। अतः उसके लिये कमसे कम समयमें अधिकसे अधिक कर्मपरमाणुओंका क्षपण होना आवश्यक है। तथा उत्तरोत्तर उनकी संख्या बढ़ती ही जानी चाहिये। इसे ही गुणश्रेणि निर्जरा कहते हैं। इस प्रकारकी निर्जरा तभी होती है, जब आत्माके भावोंमें उत्तरोत्तर विशुद्धिकी वृद्धि होती है। अर्थात् जीव उत्तरोत्तर विशुद्धिस्थानोंपर आरोहण करता जाता है। ये विशुद्धिस्थान, जो गुणश्रेणि निर्जरा अथवा गुणश्रेणि रचनाका कारण होनेसे गुणश्रेणि भी कहे जाते हैं, ग्यारह होते हैं।

शान्तमोहमें, क्षपक श्रेणिमें, और क्षीणकषाय आदि तीन गुणस्थानोंमें क्रमशः असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंकी गुणश्रेणि रचना होती है। तथा सम्यक्त्व आदि ग्यारह गुणश्रेणियोंका काल क्रमशः संख्यातवें भाग संख्यातवें भाग है॥ १–इइ उ ख० प्र०।

इन गुणश्रेणियोंका यदि गुणस्थानके क्रमसे विभाग किया जाये, तो उनमें चौथे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके सभी गुणस्थान सम्मिलित हो जाते हैं। तथा सम्यक्त्वकी प्राप्तिके अभिमुख मिथ्यादृष्टि भी उनमें सम्मिलित हो जाता है। विशुद्धिकी वृद्धि होनेपर ही चौथे पांचवे आदि गुणस्थान होते हैं अतः आगे आगेके गुणस्थानोंमें जो उक्त गुणश्रेणियां होती हैं उनमें तो अधिक अधिक विशुद्धिका होना स्वाभाविक ही है।

गुणश्रेणिके ग्यारह स्थानोंको बतला कर, अब उसका स्वरूप, तथा किस गुणश्रेणिमें कितनी निर्जरा होती है, इसका कथन करते हैं—

गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए।
एयगुणा पुण कमसो असंखगुणनिज्जरा जीवा ॥८३॥

अर्थ—उदयक्षणसे लेकर प्रतिसमय असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे कर्मदलिकोंकी रचनाको गुणश्रेणि कहते हैं। पूर्वोक्त सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति वगैरह गुणवाले जीव क्रमशः असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा करते हैं।

भावार्थ—इस गाथाकी पहली पंक्तिमें गुणश्रेणिका स्वरूप बतलाया है, और दूसरी पंक्तिमें इससे पहलेकी गाथामें बतलाये गये गुणश्रेणिवाले जीवोंके निर्जराका प्रमाण बतलाया है। हम पहले लिख आये हैं कि सम्यक्त्व देशविरति वगैरह जो गुणश्रेणिके ग्यारह प्रकार बतलाये हैं, वे स्वयं गुणश्रेणि नहीं हैं किन्तु गुणश्रेणिके कारण हैं। कारणमें कार्यका उपचार करके इन्हें

में सयोगी और अयोगीको ही गिनाया है। यथा—

"सवणो य खीणमोहो सजोगिणाहो तहा अजोगीया।
एदे उवरिं उवरिं असंखगुणकम्मणिज्जरया ॥ १०८ ॥"

किन्तु इसकी संस्कृत टीकामें टीकाकारने स्वस्थान केवली और समुद्घातगत केवलीको ही गिनाया है, 'अजोगीया'को उन्होंने छोड़ ही दिया है।

तक (प्रतिसमय) असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेपण करता है।'

खुलासा यह है कि स्थितिघातके द्वारा उन्हीं दलिकोंकी स्थितिका घात किया जाता है जिनकी स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक होती है। अतः स्थितिका घात करदेनेसे जो कर्मदलिक बहुत समय बाद उदयमें आते, वे तुरत ही उदयमें आने योग्य होजाते हैं। इसलिये जिन कर्मदलिकोंकी स्थितिका घात किया जाता है, उनमेंसे प्रतिसमय कर्मदलिकोंको ले लेकर, उदयसमयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालके अन्तिम समयतक असंख्यात गुणितक्रमसे उनकी स्थापना की जाती है। अर्थात् पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं उनमेंसे थोड़े दलिक उदय समयमें दाखिल करदिये जाते हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक उदय समयसे ऊपरके द्वितीय समयमें दाखिल करदिये हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक तीसरे समयमें दाखिल कर दिये जाते हैं। इसी क्रमसे अन्तर्मुहूर्तकालके अन्तिम समयतक असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंकी स्थापना की जाती है। यह प्रथम समयमें ग्रहीत दलिकोंके स्थापन करनेकी विधि है। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे आदि समयोंमें ग्रहीत दलिकोंके निक्षेपणकी विधि जानना चाहिये। अन्तर्मुहूर्तकाल तक यह क्रिया होती रहती है। इसीको गुणश्रेणि कहते हैं। जैसा कि कर्मप्रकृतिमें उक्त सन्दर्भकी गाथाकी टीकामें उपाध्याय यशोविजयजीने लिखा है—

"अधुना गुणश्रेणिस्वरूपमाह-यत्स्थितिकण्डकं घातयति तन्मध्याद्दलिकं गृहीत्वा उदयसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तचरमसमयं यावत् प्रतिसमयमसंख्येयगुणतया निक्षिपति। उक्तं च-'उवरिल्लठिइहिंतो घित्तूणं पुग्गले उ सो खिवइ। उदयसमयम्मि थोवे तत्तो य असंखगुणिए उ ॥ १ ॥ बीयम्मि खिवइ समए तइए तत्तो असंखगुणिए उ। एवं समए समए अन्तमुहुत्तं तु जा पुण्णं ॥२॥' एषः प्रथमसमयगृहीतदलिकनिक्षेपविधिः। एव-

मेव द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपविधि-र्द्रष्टव्यः। किञ्च गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमयादारभ्य गुण-श्रेणिचरमसमयं यावद् गृह्यमाणं दलिकं यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणं द्रष्टव्यम्। उक्तञ्च–'दलियं तु गिण्हमाणो पढमे समयम्मि थोवयं गिण्हे। उवरिल्लठिइहिंतो बियम्मि असंखगुणियं तु॥१॥ गिण्हइ समए दलियं तइए समए असंखगुणियं तु। एवं समए समए जा चरिमो अंतसमओत्ति॥ २॥' इहान्तर्मुहूर्तप्रमाणो निक्षेपकालो, दलरचनारूपगुणश्रेणिकालश्चापूर्वकरणानिवृत्ति-करणाद्धाद्विकात् किञ्चिदधिको द्रष्टव्यः, तावत्कालमध्ये चाध-स्तनोदयक्षणे वेदनतः क्षीणे शेषक्षणेषु दलिकं रचयति, न पुन-रुपरि गुणश्रेणिं वर्धयति। उक्तं च–"सेढीइ कालमाणं दुण्णय-करणाण समहियं जाण। खिज्जइ सा उदएणं जं सेसं तम्मि णिक्खेओ।' इति।"

अर्थात् 'अब गुणश्रेणिका स्वरूप कहते हैं–जिस स्थितिकण्डकका घात करता है उसमेंसे दलिकोंको लेकर, उदयकालसे लेकर अन्तर्मुहूर्तके अन्तिम-

---

१ लब्धिसारमें गाथा ६८ से ७४ तक गुणश्रेणिका विधान कहा है, जिसका आशय इस प्रकार है–गुणश्रेणिरचना जो प्रकृतियां उदयमें आरही हैं, उनमें भी होती है और जो प्रकृतियां उदय में नहीं आरही हैं उनमें भी होती है। अन्तर केवल इतना है कि उदयागत प्रकृतियोंके द्रव्यका निक्षेपण तो उदयावली गुणश्रेणि और ऊपरकी स्थिति, इन तीनोंमें ही होता है। किन्तु जो प्रकृतियां उदयमें नहीं होतीं, उनके द्रव्यका स्थापन केवल गुणश्रेणि और ऊपरकी स्थितिमें ही होता है, उदयावलीमें उनका स्थापन नहीं होता। आशय यह है कि वर्तमान समयसे लेकर एक आवली तकके समयमें जो निषेक उदय आनेके योग्य है, उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे उदया-वलीमें दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। उदयावलीके ऊपर गुणश्रेणिके

मेव द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपविधि-र्द्रष्टव्यः। किञ्च गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमयादारभ्य गुण-श्रेणिचरमसमयं यावद् गृह्यमाणं दलिकं यथोत्तरमसंख्येयगुणं द्रष्टव्यम्। उक्तञ्च–'दलियं तु गिण्हमाणो पढमे समयम्मि थोवयं गिण्हे। उवरिल्लठिइहिंतो बियम्मि असंखगुणियं तु॥१॥ गिण्हइ समए दलियं तइए समए असंखगुणियं तु। एवं समए समए जा चरिमो अंतसमओत्ति॥ २॥' इहान्तर्मुहूर्तप्रमाणो निक्षेपकालो, दलरचनारूपगुणश्रेणिकालश्चापूर्वकरणानिवृत्ति-करणाद्धाद्विकात् किञ्चिदधिको द्रष्टव्यः, तावत्कालमध्ये चाध-स्तनोदयक्षणे वेदनतः क्षीणे शेषक्षणेषु दलिकं रचयति, न पुन-रुपरि गुणश्रेणिं वर्धयति। उक्तं च-"सेढीइ कालमाणं दुण्णय-करणाण समहियं जाण। खिज्जइ सा उदएणं जं सेसं तम्मि णिक्खेओ।' इति।"

अर्थात् 'अब गुणश्रेणिका स्वरूप कहते हैं—जिस स्थितिकण्डकका घात करता है उसमेंसे दलिकोंको लेकर, उदयकालसे लेकर अन्तर्मुहूर्तके अन्तिम-

---

१ लब्धिसारमें गाथा ६८ से ७४ तक गुणश्रेणिका विधान कहा है, जिसका आशय इस प्रकार है–गुणश्रेणिरचना जो प्रकृतियां उदयमें आरही हैं, उनमें भी होती है और जो प्रकृतियां उदय में नहीं आरही हैं उनमें भी होती है। अन्तर केवल इतना है कि उदयागत प्रकृतियोंके द्रव्यका निक्षेपण तो उदयावली गुणश्रेणि और ऊपरकी स्थिति, इन तीनोंमें ही होता है। किन्तु जो प्रकृतियां उदयमें नहीं होतीं, उनके द्रव्यका स्थापन केवल गुणश्रेणि और ऊपरकी स्थितिमें ही होता है, उदयावलीमें उनका स्थापन नहीं होता। आशय यह है कि वर्तमान समयसे लेकर एक आवली तकके समयमें जो निषेक उदय आनेके योग्य है, उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे उदया-वलीमें दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। उदयावलीके ऊपर गुणश्रेणिके

समय तकके प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है। कहा भी है—'ऊपरकी स्थितिसे पुद्गलोंको लेकर उदयकालमें थोड़े स्थापन करता है, दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे स्थापन करता है, तीसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे स्थापन करता है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालकी समाप्ति तकके समयोंमें असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है।' यह प्रथम समयमें ग्रहण किये हुए दलिकोंके निक्षेपणकी विधि है। इसी ही तरह दूसरे आदि समयोंमें ग्रहण किये गये दलिकों के निक्षेपणकी विधि जाननी चाहिये। तथा, गुणश्रेणिरचनाके लिये प्रथम समयसे लेकर गुणश्रेणिके अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिक ग्रहण किये जाते हैं। कहा भी है—"ऊपरकी स्थितिसे दलिकोंका ग्रहण करते हुए, प्रथम समयमें थोड़े दलिकोंका ग्रहण करता है, दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण करता है। तीसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तकालके अन्तिम समय तक असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकों का ग्रहण करता है।" यहां निक्षेपण करनेका काल अन्तर्मुहूर्त है और

समयोंके बराबर जो निषेक हैं, उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे गुणश्रेणिमें दिया गया समझना चाहिये। गुणश्रेणिसे ऊपरके, अन्तके कुछ निषेकोंको छोड़कर, शेष सर्व निषेकोंमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे ऊपरकी स्थितिमें दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। इस क्रियाको मिथ्यात्वके उदाहरणके द्वारा यों समझना चाहिये—

मिथ्यात्वके द्रव्यमें अपकर्षण भागहारका भाग देकर, एक भाग बिना, बहुभाग प्रमाण द्रव्य तो ज्यों का त्यों रहता है। शेष एक भागको पल्यके असंख्यातवें भागका भाग देकर बहुभागको स्थापन ऊपरकी स्थितिमें करता है। शेष एक भागमें असंख्यातलोकका भाग देकर बहुभाग गुणश्रेणि आयाममें देता है। शेष एक भाग उदयावलीमें देता है। इस प्रकार गुणश्रेणि

मेव द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां ...क्षेप द्रष्टव्यः। किञ्च गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमयादारभ्य श्रेणिचरमसमयं यावद् गृह्यमाणं दलिकं यथो... असंख्ये द्रष्टव्यम्। उक्तञ्च-'दलियं तु गिण्हमाणो पढमे स... थोवयं गिण्हे। उवरिल्लठिइहिंतो वियम्मि असंखगुणियं... गिण्हइ समए दलियं तइए समए असंखगुणियं तु। एवं समए जा चरिमो अंतसमओत्ति ॥ २ ॥' इह ...तमुहू... निक्षेपकालो, ... करणाद्वाद्विकात् किञ्चिदधिको द्रष्टव्यः, तावत्कालमध्ये स्तनोदयक्षणे वेदनतः क्षीणे शेपक्षणेपु दलिकं रचयति, न रुपरि गुणश्रेणिं वर्धयति। उक्तं च-"सेढीइ कालमाणं ... करणाण समहियं जाण। खिज्जइ सा उदएणं जं सेसं ... णिक्खेओ।' इति।"

अर्थात् 'अब गुणश्रेणिका स्वरूप कहते हैं—जिस स्थितिकण्डकका करता है उसमेंसे दलिकोंको लेकर, उदयकालसे लेकर अन्तर्मुहूर्तके अ...

---

१ लब्धिसारमें गाथा ६८ से ७४ तक गुणश्रेणिका विधान कहा जिसका आशय इस प्रकार है-गुणश्रेणिरचना जो प्रकृतियां उदयमें ... हैं, उनमें भी होती है और जो प्रकृतियां उदय में नहीं आरही हैं उनमें होती हैं। अन्तर केवल इतना है कि उदयागत प्रकृतियोंके द्रव्यका निक्षे... तो उदयावली गुणश्रेणि और ऊपरकी स्थिति, इन तीनोंमें ही होता है। ... जो प्रकृतियां उदयमें नहीं होतीं, उनके द्रव्यका स्थापन केवल गुण... और ऊपरकी स्थितिमें ही होता है, उदयावलीमें उनका स्थापन नहीं होता। आशय यह है कि वर्तमान समयसे लेकर एक आवली तकके समयमें ... निषेक उदय आनेके योग्य है, उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे उदया... वलीमें दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। उदयावलीके ऊपर गुणश्रेणि

में प्रत्याख्यानावरण कषाय अनुदयवती हैं अतः उनमें उदयावलिकाको छोड़कर ऊपरके समयसे गुणश्रेणि होती है। देशविरति और सर्वविरतिकी प्राप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तकालतक जीवके परिणाम वर्धमान रहते हैं। उसके बाद कोई नियम नहीं है—किसीके परिणाम वर्धमान रहते हैं, किसीके तदवस्थ रहते हैं, और किसीके हीयमान होजाते हैं। तथा जबतक देशविरति या सर्वविरति रहती है, तबतक प्रतिसमय गुणश्रेणि भी होती है। किन्तु यहां इतनी विशेषता है कि देशचारित्र अथवा सकलचारित्रके साथ उदयावलिके ऊपर एक अन्तर्मुहूर्त कालतक असंख्यातगुणितक्रमसे गुणश्रेणिकी रचना करता है, क्योंकि परिणामोंकी नियत वृद्धिका काल उतना ही है। उसके बाद यदि परिणाम वर्धमान रहते हैं तो परिणामोंके अनुसार कभी असंख्यातवें भाग अधिक, कभी संख्यातवें भाग अधिक, कभी संख्यातगुणी और कभी असंख्यातगुणी गुणश्रेणि करता है। यदि हीयमान परिणाम होते हैं तो उस समय उक्त प्रकारसे ही हीयमान गुणश्रेणिको करता है, और अवस्थितदशामें अवस्थित गुणश्रेणिको करता है। अर्थात् वर्धमान दशामें दलिकोंकी संख्या बढ़ती हुई होती है, हीयमान दशामें घटती हुई होती है और अवस्थित दशामें अवस्थित रहती है। अतः देशविरति और सर्वविरतिमें भी प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत

---

१ देखो, कर्मप्रकृति (उपशमनाकरण) गा० २८, २९ की चूर्णि और टीकाएँ।

२ "उदयावलिए उप्पिं गुणसेढिं कुणइ सह चरित्तेण।
अंतो असंखगुणणाए तत्तियं वड्ढए कालं ॥७६३॥" पञ्चसंग्रह।

३ "चउगइया पज्जत्ता तिन्निवि संयोयणा विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया नंतरकरणं उवसमो वा ॥३१॥"
कर्मप्रकृति (उप०)

और सर्वविरत जीव करते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि तो चारों गतिके लेने चाहियें, देशविरत मनुष्य और तिर्यञ्च ही होते हैं, और सर्वविरत मनुष्य ही होते हैं। जो जीव अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करनेके लिये उद्यत होता है, वह यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणोंको करता है। यहां इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरणके प्रथम समयसे ही गुणसंक्रम भी होने लगता है। अर्थात् अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें अनन्तानुबन्धी कषायके थोड़े दलिकोंका शेष कषायोंमें संक्रमण करता है। दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका परकषायरूप संक्रमण करता है। तीसरे समयमें उससे भी असंख्यातगुणे दलिकोंका परकषायरूप संक्रमण करता है। यह क्रिया अपूर्वकरणके अन्तिम समयतक होती है। उसके बाद अनिवृत्तिकरणमें गुणसंक्रम और उद्वलन संक्रमणके द्वारा समस्त दलिकोंका विनाश करदेता है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धीके विसंयोजनमें भी प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा जाननी चाहिये।

दर्शनमोहनीयके[1] क्षपणका प्रारम्भ वज्रऋषभनाराच संहननका धारक मनुष्य आठवर्षकी अवस्थाके बाद करता है। किन्तु यह काम जिनकालमें उत्पन्न होनेवाला मनुष्य ही कर सकता है। अर्थात् ऋषभ जिनसे लेकर जम्बूस्वामीको केवलज्ञानकी उत्पत्ति होने तकके कालमें उत्पन्न होनेवाला मनुष्य दर्शनमोहका क्षपण कर सकता है। दर्शन मोहनीयकी क्षपणा भी उसी प्रकारसे जाननी चाहिये जैसा कि पहले अनन्तानुबन्धी कषायकी बतला आये हैं। यहां पर भी पूर्ववत् तीनों करण करता है और अपूर्वकरणमें गुणश्रेणि वगैरह कार्य होते हैं।

उपशमश्रेणिपर आरोहण करनेवाला जीव भी तीनों करणोंको करता

---

१ "दंसणमोहे वि तहा कयकरणद्धा य पच्छिमे होइ।
जिणकालगो मणुस्सो पट्ठवगो अट्ठवासुप्पि ॥ ३२ ॥"
कर्मप्रकृति (उपशम०)

है। यहां इतना अन्तर है कि यथाप्रवृत्तकरण सातवें गुणस्थानमें करता है। अपूर्वकरण, अपूर्वकरण नामके गुणस्थानमें और अनिवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण नामके गुणस्थानमें करता है। यहां परभी पूर्ववत् स्थितिघात गुणश्रेणि वगैरह कार्य होते हैं। अतः उपशमक भी प्रतिसमय असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

चारित्रमोहनीयका उपशम करनेके बाद उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँच कर भी जीव गुणश्रेणिरचना करता है। उपशान्तमोहका काल अन्तर्मुहूर्त है और उसके संख्यातवें भाग कालमें गुणश्रेणिकी रचना होती है। अतः यहां पर भी जीव प्रति समय असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

ग्यारहवें गुणस्थानसे च्युत होकर छठे गुणस्थान तक आकर जब जीव क्षपकश्रेणि चढ़ता है, अथवा उपशमश्रेणिपर आरूढ हुए विना ही सीधा क्षपकश्रेणिपर चढ़ता है तो वहाँपर भी यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और और अनिवृत्तिकरणको करता है और उनमें उपशमक और उपशान्तमोह गुणस्थानोंसे भी असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। इसी प्रकार क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली नामक गुणश्रेणियोंमें भी उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा जाननी चाहिये।

इन ग्यारह गुणश्रेणियोंमेंसे प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त होने पर भी अन्तर्मुहूर्तका परिमाण उत्तरोत्तर हीन होता है, तथा निर्जरा द्रव्यका परिमाण सामान्यसे असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा होनेपर भी उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ होता है। आशय यह है कि उत्तरोत्तर कम कम समयमें अधिक अधिक द्रव्यकी निर्जरा होती है क्योंकि परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार गुणश्रेणिका विधान जानना चाहिये।

गुणश्रेणिका वर्णन करते हुए बतला आये हैं कि जीव ज्यों ज्यों आगे आगेके गुणोंको अपनाता जाता है, त्यों त्यों उसके असंख्यातगुणी असं-

ख्यातगुणी निर्जरा होती है। और क्रमशः संक्लेशकी हानि और विशुद्धिका प्रकर्ष होनेपर आगे आगेके गुण ही गुणस्थान कहे जाते हैं। अतः यहां गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाते हैं—

पलियासंखंसमुहू सासणइयरगुण अंतरं हस्सं।
गुरु मिच्छी वे छसट्ठी इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ॥८४॥

अर्थ—सास्वादन गुणस्थानका जघन्य अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग है। और इतर गुणस्थानोंका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। तथा, मिथ्यात्व गुणस्थानका उत्कृष्ट अन्तर दो छियासठ सागर अर्थात् १३२ सागर है, और इतर गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्द्ध पुद्गलपरावर्त है।

भावार्थ—हम पहले लिख आये हैं कि सम्यक्त्व, देशविरति वगैरह जो गुणश्रेणियाँ बतलाई हैं, वे प्रायः गुणस्थान ही हैं। गुणोंके स्थानोंको गुणस्थान कहते हैं। अतः सम्यक्त्वगुण जिस स्थानमें प्रादुर्भूत होता है, वह सम्यक्त्व गुणस्थान कहा जाता है। देशविरति गुण जिस स्थानमें प्रकट होता है, वह देशविरति गुणस्थान कहा जाता है। इसी तरह आगे भी समझना चाहिये। उक्त गुणश्रेणियोंका सम्बन्ध गुणस्थानोंके साथ होनेके कारण ग्रन्थकारने इस गाथाके द्वारा गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाया है। कोई जीव किसी गुणस्थानसे च्युत होकर जितने समयके बाद पुनः उस गुणस्थानको प्राप्त करता है, वह समय उस गुणस्थानका अन्तरकाल कहा जाता है। यहां सास्वादन नामक दूसरे गुणस्थानका जघन्य अन्तराल पल्यके असंख्यातवें भाग बतलाया है, जो इस प्रकार है—

कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, अथवा सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीयकी उद्वलना कर देनेवाला सादि मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करके, अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे सास्वादन-

सम्यग्दृष्टि होकर, मिथ्यात्वगुणस्थानमें आ जाता है। वही जीव यदि उसी क्रमसे पुनः सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त करता है तो कमसे कम पल्यके असंख्यातवें भाग कालके बाद ही प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि सास्वादन गुणस्थानसे मिथ्यात्व गुणस्थानमें आनेपर सम्यक्त्व मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृतियोंकी सत्ता अवश्य रहती है। इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता होते हुए पुनः औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होसकता, और औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त किये विना सास्वादन गुणस्थान नहीं हो सकता। अतः मिथ्यात्वमें जानेके बाद जीव सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यात्व-मोहनीयकी प्रतिसमय उद्वलना करता है, अर्थात् उक्त दोनों प्रकृतियोंके दलिकोंको मिथ्यात्व मोहनीयरूप परिणमाता रहता है।

इस प्रकार उद्वलन[1] करते करते पल्यके असंख्यातवें भाग कालमें उक्त दोनों प्रकृतियोंका अभाव हो जाता है। और उसके होने पर वही जीव पुनः औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करके सास्वादन गुणस्थानमें आ जाता है। अतः सास्वादन गुणस्थानका अन्तराल पल्यके असंख्यातवें भागसे कम नहीं हो सकता।

शङ्का–कोई कोई जीव उपशमश्रेणिसे गिरकर सास्वादन गुणस्थानमें आते हैं, और अन्तर्मुहूर्तके बाद पुनः उपशमश्रेणिपर चढ़कर, वहाँसे गिर-कर पुनः सास्वादन गुणस्थानमें आ जाते हैं। इस प्रकारसे सास्वादनका जघन्य अन्तर बहुत थोड़ा होता है। अतः उसका जघन्य अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग क्यों बतलाया गया है?

---

१ यथाप्रवृत्त आदि तीन करणोंके विना ही किसी प्रकृतिको अन्य प्रकृति-रूप परिणमानेको उद्वलन कहते हैं।

२ 'पल्योपमासंख्येयभागमात्रेण कालेन ते सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलयतः स्तोके उद्वलनसंक्रमे तयोर्जघन्यः प्रदेशसंक्रमः।'

(कर्मप्रकृति, मलय० टी० गा० १०० संक्रम०)

उत्तर-उपशमश्रेणिसे च्युत होकर जो सास्वादन गुणस्थानकी प्राप्ति होती है, वह केवल मनुष्यगतिमें ही सम्भव है और वहाँ पर भी इस प्रकार की घटना बहुत कम होती है । अतः यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की है । किन्तु उपशमसम्यक्त्वसे च्युत होकर जो सास्वादनकी प्राप्ति बतलाई है, वह चारों गतिमें सम्भव है। अतः उसकी अपेक्षासे ही सास्वादनका जघन्य अन्तराल बतलाया है ।

सास्वादनके सिवाय बाकीके गुणस्थानोंमेंसे मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त तथा उपशमश्रेणिके अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और उपशान्तमोह गुणस्थानसे च्युत होकर जीव अन्तर्मुहूर्तके बाद ही उन गुणस्थानोंको पुनः प्राप्त कर लेता है। अतः उनका जघन्य अन्तराल एक अन्तर्मुहूर्त ही होता है। क्योंकि जब कोई जीव उपशमश्रेणि पर चढ़कर ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचता है, और वहाँसे गिरकर क्रमशः उतरते उतरते मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें आ जाता है। उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें पुनः ग्यारहवें गुणस्थान तक जा पहुँचता है। क्योंकि एक भवमें दो बार उपशम श्रेणिपर चढ़नेका विधान शास्त्रोंमें[1] पाया जाता है उस समय मिश्रगुणस्थानके सिवाय उक्त बाकीके गुणस्थानोंमेंसे प्रत्येकका जघन्य अन्तराल अन्तर्मुहूर्त होता है।

यहाँ मिश्रगुणस्थानको इसलिये छोड़ दिया है कि श्रेणिसे गिरकर जीव मिश्र गुणस्थानमें नहीं जाता है । अतः जब जीव श्रेणि पर नहीं चढ़ता तब मिश्र गुणस्थानका और सास्वादनके सिवाय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तकका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त होता है क्योंकि ये गुणस्थान अन्तर्मुहूर्तके बाद पुनः प्राप्त हो सकते हैं। बाकीके क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली गुणस्थानोंका अन्तरकाल नहीं होता, क्योंकि ये गुणस्थान

---

१ 'एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा।' कर्मप्रकृति गा० ६४, तथा पञ्चसङ्ग्रह गा० ९३। उपशम०।

एक बार प्राप्त होकर पुनः प्राप्त नहीं होते। इस प्रकार गुणस्थानोंका [illegible] अन्तर होता है।

उत्कृष्ट अन्तर मिथ्यात्व गुणस्थानका एक सौ बत्तीस सागर है, जो इस प्रकार है कोई जीव विशुद्ध परिणामोंके कारण मिथ्यात्व गुणस्थानको छोड़कर सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व सहित छयासठ सागर समाप्त करके वह जीव अन्तर्मुहूर्तके लिये सम्यग्मिथ्यात्वमें चला जाता है। वहाँसे पुनः क्षयोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके छियासठ सागरकी समाप्ति तक यदि उसने मुक्ति लाभ नहीं किया तो वह जीव अवश्य मिथ्यात्वमें आता है। इस प्रकार मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर एक सौ बत्तीस सागरसे कुछ अधिक होता है। सासादनसे लेकर उपशान्तमोह तक बाकीके गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तरकाल कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्त है। क्योंकि इन गुणस्थानोंसे भ्रष्ट होकरके जीव अधिकसे अधिक कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्त काल तक संसारमें परिभ्रमण करता रहता है, उसके बाद उसे पुनः उक्त गुणस्थानोंकी प्राप्ति होती है। अतः इन गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तराल कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्त होता है। बाकीके क्षीणमोह वगैरह गुणस्थानोंका अन्तर नहीं होता, यह पहले कह ही आये हैं।

सास्वादनका जघन्य अन्तर पल्योपम कालके असंख्यातवें भाग बतलाया है। अतः पल्योपमकालका स्वरूप विस्तारसे कहते हैं—

उद्धारअद्धखित्तं पलिय तिहा समयवाससयसमए।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाणं ॥ ८९ ॥

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी गुणस्थानोंका अन्तर इतना ही बतलाया है। यथा—

"पलियासंखो सासायणंतरं सेसयाण अंतमुहू।
मिच्छस्स बे छसट्ठी इयराणं पोग्गलद्धंतो ॥ ९५ ॥"

अर्थ—पल्योपम तीन प्रकारका होता है—उद्धार पल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्र पल्योपम । उद्धार पल्योपममें प्रति समय एक एक वालाग्र निकाला जाता है और उससे द्वीप और समुद्रोंकी संख्या मालूम की जाती है। अद्धा पल्योपममें सौ सौ वर्षके बाद एक एक वालाग्र निकाला जाता है, और उसके द्वारा नारक तिर्यञ्च आदि चारों गतियोंके जीवोंकी आयुका परिमाण जाना जाता है । क्षेत्रपल्योपममें प्रति समय वालाग्रसे स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट एक एक आकाश प्रदेश निकाला जाता है और उसके द्वारा त्रस आदि कायोंका परिमाण जाना जाता है ।

भावार्थ—इस गाथामें पल्योपमके भेद, उनका स्वरूप और उनकी उपयोगिताका संक्षेपमें निर्देश किया है । किन्तु **अनुयोगद्वार**[1] **प्रवचनसारोद्धार**[2] वगैरहमें उनका स्वरूप विस्तारसे बतलाया है । अतः गाथामें सूत्ररूपसे कही गई बातोंको स्पष्टरूपसे समझानेके लिये, उक्त ग्रन्थोंके आधारपर पल्योपम वगैरहका स्वरूप बतलाया जाता है ।

गाथा ४०-४१में क्षुद्र भवका प्रमाण बतलाते हुए प्राचीन कालगणनाका थोड़ा सा निर्देश कर आये हैं, और समय, आवलिका, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव और मुहूर्तका स्वरूप बतला आये हैं । तथा ३० मुहूर्तका एक दिनरात, पन्द्रह दिनरातका एक पक्ष, दो पक्षका एक मास, दो मासकी एक ऋतु, तीन ऋतुका एक अयन, और दो अयनका एक वर्ष तो प्रसिद्ध ही है । वर्षोंकी अमुक अमुक संख्याको लेकर प्राचीन कालमें जो संज्ञाएँ निर्धारित की गई थीं, वे इस प्रकार हैं—८४ लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग,

१ गा० १०७, सू० १३८ । २ पृ० ३०२ । ३ द्रव्यलोक० पृ० ४ ।

४ ये संज्ञाएँ अनुयोगद्वारके अनुसार दी गई हैं । ज्योतिष्करण्डके अनुसार इनका क्रम इस प्रकार है—

८४ लाख पूर्वका एक लताङ्ग, ८४ लाख लताङ्गका एक लता, ८४ लाख लताका एक महालताङ्ग, ८४ लाख महालताङ्गका एक महालता, इसी प्रकार

चौरासी लाख पूर्वाङ्गका एक पूर्व, चौरासी लाख पूर्वका एक त्रुटिताङ्ग, चौरासी लाख त्रुटिताङ्गका एक त्रुटित, चौरासी लाख त्रुटितका एक अडडाङ्ग, चौरासी लाख अडडाङ्गका एक अडड, इसी प्रकार क्रमशः अववाङ्ग, अवव, हुहुअङ्ग, हुहु, उत्पलाङ्ग, उत्पल, पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग, नलिन, अर्थनिपूराङ्ग, अर्थनिपूर, अयुताङ्ग, अयुत, प्रयुताङ्ग, प्रयुत, नयुताङ्ग, नयुत, चूलिकाङ्ग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकाङ्ग, शीर्षप्रहेलिका, ये उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणे होते हैं। इन संज्ञाओंको बतलाकर **अनुयोगद्वारमें** आगे लिखा है—**"एयावया चेव गणिए, एयावया चेव गणिअस्स विसए, एत्तोऽवरं ओवमिए पवत्तइ।"** (सू० १३७)

अर्थात्-'शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करनेसे १९४ अङ्क प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है गणितकी अवधि वहीं तक है, उतनी ही राशि

आगे नलिनाङ्ग, नलिन, महानलिनाङ्ग, महानलिन, पद्माङ्ग, पद्म, महापद्माङ्ग, महापद्म, कमलाङ्ग, कमल, महाकमलाङ्ग, महाकमल, कुमुदाङ्ग, कुमुद, महाकुमुदाङ्ग, महाकुमुद, त्रुटिताङ्ग, त्रुटित, महात्रुटिताङ्ग, महात्रुटित, अडडाङ्ग, अडड, महाअडडाङ्ग, महाअडड, ऊहाङ्ग, ऊह, महाऊहांग, महाऊह, शीर्षप्रहेलिकाङ्ग और शीर्षप्रहेलिकाको समझना चाहिये। (गा० ६४-७१)

काललोकप्रकाशके अनुसार अनुयोगद्वार जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वगैरह माथुर वाचनाके अनुगत हैं और ज्योतिष्करण्ड वगैरह वलभी वाचनाके अनुगत हैं। इसीसे दोनोंकी गणनाओंमें अन्तर है। दिगम्बर ग्रन्थ त० राजवार्तिकमें (पृ० १४९) पूर्वाङ्ग, पूर्व, नयुताङ्ग, नयुत, कुमुदाङ्ग, कुमुद, पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग, नलिन, कमलाङ्ग, कमल, तुट्याङ्ग, तुट्य, अटटाङ्ग, अटट, अममाङ्ग, अमम, हूहूअंग, हूहू, लताङ्ग, लता, महालता प्रभृति, संज्ञाएं दी हैं।

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिमें अयुत, नयुत और प्रयुत पाठ है। यथा-"अउए, नउए, पउए।" पृ० ७५ उ०।

गणितका विषय है । उससे आगे उपमा प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है ।'

इसका आशय यह है कि जैसे लोकमें जो वस्तुएँ सरलतासे गिनी जा सकती हैं, उनकी गणनाकी जाती है। जो वस्तुएँ, जैसे तिल,सरसों वगैरह, गिनी नहीं जा सकती, उन्हें तोल या माप वगैरहसे आंक लेते हैं । उसी तरह समयकी जो अवधि वर्षोंके रूपमें गिनी जा सकती है, उसकी तो गणनाकी जाती है और उसके लिये पूर्वाङ्ग पूर्व वगैरह संज्ञाएँ कल्पितकी गई हैं । किन्तु जहाँ समयकी अवधि इतनी लम्बी है कि उसकी गणना वर्षोंमें नहीं की जा सकती तो उसे उपमाप्रमाणके द्वारा जाना जाता है। उस उपमा प्रमाणके दो भेद हैं—पल्योपम और सागरोपम । अनाज वगैरह भरनेके गोलाकार स्थानको पल्य कहते हैं । समयकी जिस लम्बी अवधिको उस पल्यको उपमा दी जाती है, वह काल पल्योपम कहलाता है । पल्योपमके तीन भेद हैं—उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्र-पल्योपम । इसी प्रकार सागरोपम कालके भी तीन भेद हैं—उद्धार सागरो-पम, अद्धासागरोपम और क्षेत्र सागरोपम। इनमेंसे प्रत्येक पल्योपम और सागरोपम दो प्रकारका होता है—एक बादर और दूसरा सूक्ष्म[1] । इनका स्वरूप क्रमशः निम्न प्रकार है—

उत्सेधाङ्गुलके[2] द्वारा निष्पन्न एक योजनप्रमाण लम्बा, एक योजन

---

१ अनुयोगद्वारमें सूक्ष्म और व्यवहारिक भेद किये हैं ।

२ अङ्गुलके तीन भेद हैं–आत्माङ्गुल, उत्सेधाङ्गुल और प्रमाणाङ्गुल ।

जिस समयमें जिन पुरुषोंके शरीरकी ऊंचाई अपने अङ्गुलसे १०८ अङ्गुलप्रमाण होती है, उन पुरुषोंका अङ्गुल आत्माङ्गुल कहलाता है । इस अङ्गुलका प्रमाण सर्वदा एकसा नहीं रहता, क्योंकि कालभेदसे मनुष्योंके शरीरकी ऊंचाई घटती बढ़ती रहती है । उत्सेधाङ्गुलका प्रमाण–परमाणु दो प्रकारका होता है–एक निश्चय परमाणु और दूसरा व्यवहारपरमाणु । अनन्त निश्चय परमाणुओंका एक व्यवहारपरमाणु होता है । यह व्यवहार-

परमाणु वास्तवमें तो एक स्कन्ध ही है, किन्तु व्यवहारसे इसे परमाणु कहते हैं, क्योंकि यह इतना सूक्ष्म होता है कि तीक्ष्णसे तीक्ष्ण शस्त्रके द्वारा इसका छेदन भेदन नहीं हो सकता, तथा आगेके सभी मापोंका इसे मूलकारण कहा गया है । अनन्त व्यवहार परमाणुओंका एक उत्श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका और आठ उत्श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका का एक श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका होती है। (जीवसमाससूत्रमें अनन्त उत्श्लक्ष्ण० का एक श्लक्ष्ण० बतलाई है किन्तु आगममें अनेक स्थलोंपर इसे अठगुणी ही बतलाया है । लो० प्र०, १ स०, पृ०, २ पू०) आठ श्लक्ष्ण० का एक उर्ध्वरेणु, ८ उर्ध्वरेणुका १ त्रसरेणु, आठ त्रसरेणुका १ रथरेणु, (कहीं कहीं 'परमाणु, रथरेणु और त्रसरेणु' ऐसा क्रम पाया जाता है। (देखो ज्योतिष्क० गा० ७४) किन्तु प्रवचनसा० के व्याख्याकार इसे असङ्गत कहते हैं । यथा–'इह च बहुषु सूत्रादर्शेषु 'परमाणु रहरेणु तसरेणु' इत्यादिरेव पाठो दृश्यते, स चासङ्गत एव लक्ष्यते ।' पृ० ४०६ उ०)

आठ रथरेणुका देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रके मनुष्यका एक केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक हरिवर्ष और रम्यक क्षेत्रके मनुष्यका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रके मनुष्यका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक पूर्वापरविदेहके मनुष्यका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंका एक भरत और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्योंका केशाग्र, उन आठ केशाग्रोंकी एक लीख, आठ लीखकी एक यूका (जूं), आठ यूकाका एक यवका मध्यभाग और आठ यवमध्यका एक उत्सेधाङ्गुल होता है । तथा, ६ उत्सेधाङ्गुलका एक पाद, दो पादकी एक वितस्ति, दो वितस्तिका एक हाथ, चार हाथका एक धनुष, दो हजार धनुषका एक गव्यूत, और चार गव्यूतका एक योजन होता है । उत्सेधाङ्गुल से अढ़ाईगुणा विस्तार वाला और चार सौ गुणा लम्बा प्रमाणाङ्गुल होता है युगके आदिमें भरत-

चौड़ा और एक योजन गहरा एक गोल पल्य=गड्ढा बनाना चाहिये जिसकी परिधि कुछ कम ३$\frac{1}{6}$ योजन होती है। एक दिनसे लेकर सातें दिन तकके

चक्रवर्तीका जो आत्माङ्गुल था, वही प्रमाणाङ्गुल जानना चाहिये। अनुयोग० पृ० १५६-१७२, प्रवचनसा० पृ० ४०५-८, द्रव्यलोक० पृ० १-२। दिगम्बर परम्परामें अङ्गुलोंका प्रमाण इसप्रकार बतलाया है—अनन्तानन्त सूक्ष्मपरमाणुओंकी एक उत्संज्ञासंज्ञा, आठ उत्संज्ञासंज्ञाका एक संज्ञासंज्ञा, आठ संज्ञासंज्ञाका एक त्रुटिरेणु, आठ त्रुटिरेणुका एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु, का एक रथरेणु, आठ रथरेणुका उत्तरकुरु देवकुरुके मनुष्यका एक बालाग्र, उन आठ बालाग्रोंका रम्यक और हरिवर्षके मनुष्यका एक बालाग्र, उन आठ बालाग्रोंका हैमवत और हैरण्यवत मनुष्यका एक बालाग्र, उन आठ बालाग्रोंका भरत, ऐरावत और विदेहके मनुष्यका एक बालाग्र, शेष पूर्ववत्। उत्सेधाङ्गुलसे पांचसौ गुणा प्रमाणाङ्गुल होता है। यही भरत चक्रवर्तीका आत्माङ्गुल है। त० राजवार्तिक पृ० १४७-१४८।

१ अनुयोगद्वारमें 'एगाहिअ बेआहिअ, तेआहिय जाव उक्कोसेणं सत्तरत्तरूढाणं...... वालग्गकोडीणं' (पृ० १८० पू०) लिखा है। प्रवचनसारोद्धारमें भी इनसे मिलता जुलता ही पाठ है। दोनोंकी टीकामें इसका अर्थ किया है कि सिरके मुंडादेने पर एक दिनमें जितने बड़े बाल निकलते हैं, वे एकाहिक्य कहलाते हैं, दो दिनके निकले बाल द्व्याहिक्य, तीन दिनके बाल त्र्याहिक्य, इसी तरह सात दिन तकके उगे हुए बाल लेने चाहिये। द्रव्यलोकप्रकाशमें इसके बारेमें लिखा है कि उत्तरकुरुके मनुष्योंका सिर मुंडादेनेपर एकसे सात दिनतकके अन्दर जो केशराशि उगती हो वह लेनी चाहिये। उसके आगे पृ० ४ पू० में लिखा है—

"क्षेत्रसमासबृहद्वृत्तिजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्त्यभिप्रायोऽयम्, प्रवचनसारोद्धारवृत्तिसंग्रहणीबृहद्वृत्त्योस्तु मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना यावत्-

महोभ्यां यावदुत्कर्षतः सप्तभिरहोभिः प्ररूढानि वालाग्राणि इत्या
सामान्यतः कथनादुत्तरकुरुनरवालाग्राणि नोक्तानीति ज्ञेयम्। 'वीरअ
सेहर' क्षेत्रविचारसत्कस्वोपज्ञवृत्तौ तु देवकुरूत्तरकुरूद्भवसप्तदिनजात
रणस्योत्सेधाङ्गुलप्रमाणं रोम सप्तकृत्वोऽष्टखण्डीकरणेन विंशतिलक्षसप्त
नवतिसहस्रैकशतद्वापञ्चाशत्प्रमितखण्डभावं प्राप्यते, तादृशै रोमखण्डैर्
पल्यो भ्रियत इत्यादिरर्थतः संप्रदायो दृश्यत इति ज्ञेयम् ।"

अर्थात्-क्षेत्रसमासकी बृहद्वृत्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिकी वृत्तिक यह अभिप्राय है अर्थात् उनमें उत्तरकुरुके मनुष्यके केशाग्र बतलाये हैं। प्रवचनसा० की वृत्ति और सङ्ग्रहणीकी बृहद्वृत्तिमें सामान्यसे सिरके मुडादेनेपर एकसे लेकर सात दिनतकके उगे हुए बालोंका उल्लेख किया है-उत्तर कुरुके मनुष्यके वालाग्रोंका ग्रहण नहीं किया है। क्षेत्रविचार की स्वोपज्ञवृत्तिमें लिखा हैं कि देवकुरु उत्तरकुरुमें जन्मे सात दिनके मेष (भेड़) के उत्सेधाङ्गुलप्रमाण रोमको लेकर उसके सात बार आठ आठ खण्ड करना चाहिये। अर्थात् उस रोमके आठ खण्ड करके पुनः एक एक खण्डके आठ आठ खण्ड करने चाहिये। उन खण्डोंमेंसे भी प्रत्येक खण्डके आठ आठ खण्ड करने चाहिये। ऐसा करते करते उस रोमके बीस लाख सतानवे हजार एकसौ बावन २०९७१५२ खण्ड होते हैं। इस प्रकारके खण्डोंसे उस पल्यको भरना चाहिये।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (पृ० ७९) में भी 'एगाहिअ बेहिअ तेहिअ उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं...वालग्गकोडीणं' ही पाठ है। किन्तु टीकाकारने उसका अर्थ-'वालेषु...अग्राणि श्रेष्ठाणि वालाग्राणि कुरुनररोमाणि तेषां कोटयः अनेकाः कोटीकोटीप्रमुखाः संख्याः' किया है। जिसका आशय है-बालोंमें अग्र=श्रेष्ठ जो उत्तरकुरु देवकुरुके मनुष्योंके बाल, उनकी कोटिकोटि। इस तरह टीकाकारने बालसामान्यसे कुरुभूमिके मनुष्योंके बालोंका ग्रहण

उगे हुए बालाग्रोंसे उस पल्यको इतना ठसाठस भरना चाहिये कि न उन्हें आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जलका ही उसमें प्रवेश हो सके। उस पल्यसे प्रति समय एक एक बालाग्र निकाला जाये। इस तरह करते करते जितने समयमें वह पल्य खाली हो, उस कालको बादर उद्धार पल्योपम कहते हैं। दस कोटीकोटी बादर उद्धार पल्योपमका एक बादर उद्धार सागरोपम होता है। इन बादर उद्धारपल्योपम और बादर उद्धार सागरोपमका केवल इतना ही उपयोग है कि इनके द्वारा सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपम सरलतासे समझमें आ जाते हैं।

बादर उद्धारपल्यके एक एक केशाग्रके अपनी बुद्धिके द्वारा असंख्यात असंख्यात टुकड़े करना चाहिये। द्रव्यकी अपेक्षासे ये टुकड़े इतने सूक्ष्म होते हैं कि अत्यन्त विशुद्ध आँखोंवाला पुरुष अपनी आँखसे जितने सूक्ष्म पुद्गलद्रव्यको देखता है, उसके भी असंख्यातवें भाग होते हैं। तथा

किया है। दिगम्बर साहित्यमें 'एकादिसप्ताहोरात्रिजाताविवालाग्राणि' लिखकर 'एक दिनसे सात दिनतकके जन्मे हुए मेषके बालाग्र ही लिये हैं।

१ इसके बारेमें द्रव्यलोकप्रकाश (१ सर्ग) में इतना और भी लिखा है—

"तथा च चक्रिसैन्येन तनाक्रम्य प्रसर्पता।
न मनाक् म्रियते नीचैरेवं निचिडतागतात् ॥ ८२ ॥"

अर्थात्—'वे केशाग्र इतने घने भरे हुए हों कि यदि चक्रवर्तीकी सेना उनपरसे निकल जाये तो वे जरा भी नीचे न हो सकें।'

२ "अस्मिन्निरूपिते सूक्ष्मं सुबोधमद्धैरपि।
अतो निरूपितं नान्यद्विच्छिद्यस्य प्रयोजनम् ॥८६॥"

द्रव्यलोक० (१ सर्ग)

क्षेत्रको अवगाहते सूक्ष्म पनक जीवका शरीर जितने क्षेत्रको रोकता है, उससे असंख्यातगुणी अवगाहनावाले होते हैं। इन केशाग्रोंसे पहलेकी ही तरह पल्यमें ठसाठस भर देना चाहिये। पहलेकी ही तरह प्रति समय केशाग्रके एक एक खण्डको निकालने पर संख्यात करोड़ वर्षमें वह पल्य खाली होता है। अतः इस कालको सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहते हैं। दस कोटीकोटी सूक्ष्म उद्धारपल्यका एक सूक्ष्म उद्धारसागरोपम होता है। इन सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपमसे द्वीप और समुद्रोंकी गणना की जाती है। अढ़ाई सूक्ष्म उद्धारसागरोपमके अथवा पच्चीस कोटीकोटी सूक्ष्म उद्धारपल्योपमके जितने समय होते हैं, उतने ही द्वीप और समुद्र जानने चाहिये। पूर्वोक्त बादर उद्धारपल्यसे सौ सौ वर्षके बाद एक एक केशाग्र निकालनेपर जितने समयमें वह पल्य खाली होता है, उतने समयको बादर अद्धा पल्योपमकाल कहते हैं। दस कोटीकोटी बादर अद्धा पल्योपमकालका एक बादर अद्धा सागरोपमकाल होता है। तथा पूर्वोक्त सूक्ष्म उद्धारपल्यमेंसे सौ सौ वर्षके बाद केशाग्रका एक एक खण्ड निकालने पर जितने समयमें वह पल्य खाली होता है, उतने समयको सूक्ष्म अद्धा

१ इसका विशेषावश्यकभाष्यकी कोट्याचार्य प्रणीत टीका (पृ०२१०)में 'वनस्पतिविशेष' अर्थ किया है। प्रवचनसारोद्धारकी टीकामें (पृ० ३०३) लिखा है कि वृद्धोंने बादर पर्याप्तक पृथिवीकायके शरीरके बराबर उसकी अवगाहना बतलाई है। यथा—"वृद्धास्तु व्याचक्षते—बादरपर्याप्तपृथिवीकाय-शरीरतुल्यमिति। तथा चानुयोगद्वारमूलटीकाकृदाह हरिभद्रसूरिः—'बादर-पृथिवीकायिकपर्याप्तशरीरतुल्यान्यसंख्येयखण्डानि' इति वृद्धवादः।"

२ 'एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओअणं ? एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारो घेप्पइ। केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा...जावइआणं अड्ढाइज्जाणं उद्धारसाग-रोवमाणं उद्धारसमया एवइया णं दीवसमुद्दा।" अनुयोग० पृ० १८१ पू०।

पल्योपमकाल कहते हैं। दस कोटीकोटी सूक्ष्म अद्धा पल्योपमका एक सूक्ष्म अद्धा सागरोपमकाल होता है। दस कोटीकोटी सूक्ष्म अद्धा सागरोपमकी एक अवसर्पिणी और उतनेकी ही एक उत्सर्पिणी होती है। इन सूक्ष्म अद्धापल्योपम और सूक्ष्म अद्धासागरोपमके द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकोंकी आयु, कर्मोंकी स्थिति वगैरह जानी जाती है।

पहलेकी ही तरह एक योजन लम्बे चौड़े और गहरे गढेमें एक दिनसे लेकर सात दिन तकके उगे हुए बालोंके अग्र भागको पहले कोही तरह ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाशके जिन प्रदेशोंको स्पर्श करें, उनमेंसे प्रति समय एक एक प्रदेशका अपहरण करते करते जितने समयमें समस्त प्रदेशोंका अपहरण किया जा सके, उतने समयको बादर क्षेत्र पल्योपम काल कहते हैं। यह काल असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणीकालके बराबर होता है। दस कोटीकोटी बादरक्षेत्र पल्योपमका एक बादरक्षेत्र सागरोपम काल होता है।

बादरक्षेत्र पल्यके बालाग्रोंमेंसे प्रत्येकके असंख्यात खण्ड करके उन्हें उसी पल्यमें पहले ही की तरह भर दो। उस पल्यमें वे खण्ड आकाशके जिन प्रदेशोंको स्पर्श करें और जिन प्रदेशोंको स्पर्श[2] न करे, उनमेंसे प्रति

१ एएहिं सुहुमेहिं अद्धाप० सागरोवमेहिं किं पओअणं? एएहिं सुहुमेहिं अद्धाप० सागरो० नेरइअतिरिक्खजोणिअमणुस्सदेवाणं आउअं मविज्जइ। अनुयोग० सू० १३८ पृ० १८३।

२ यहां एक शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि बालाग्रोंसे स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं तो बालाग्रोंका कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस शङ्का और उसके समाधानका विवरण अनुयोगद्वारकी टीकामें इस प्रकार किया है–

"आह–यदि स्पृष्टा अस्पृष्टाश्च नभःप्रदेशा गृह्यन्ते तर्हि बालाग्रैः किं प्रयोजनम्? यथोक्तपल्यान्तर्गतनभःप्रदेशापहारमात्रतः सानान्द्येनैव

समय एक एक प्रदेशका अपहरण करते करते जितने समयमें स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशोंका अपहरण किया जा सके, उतने समयको एक सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम काल कहते हैं। दस कोटी कोटी सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम-का एक सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम होता है। इन सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम और सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है।

इस प्रकार पल्योपम के भेद और उनका स्वरूप जानना चाहिये।

[illegible] स्यात्। सत्यं, किन्तु प्रस्तुतपल्योपमेन दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते, तानि च कानिचित् यथोक्तवालाग्रस्पृष्टैरेव नभःप्रदेशैर्मीयन्ते कानिचिदस्पृष्टैरित्यतो दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगित्वात् वालाग्रप्ररूपणाऽत्र प्रयोजनवतीति।" पृ० १९३ पू०।

शङ्का-यदि आकाशके स्पृष्ट और अस्पृष्ट प्रदेशोंका ग्रहण करना है तो वालाग्रोंका कोई प्रयोजन नहीं रहता; क्योंकि उस दशामें पूर्वोक्त पल्यके अन्दर जितने प्रदेश हों, उनके अपहरण करनेसे ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है?

समाधान-आपका कहना ठीक है, किन्तु प्रस्तुत पल्योपमसे दृष्टिवादमें द्रव्योंके प्रमाणका विचार किया जाता है। उनमेंसे कुछ द्रव्योंका प्रमाण तो उक्त वालाग्रोंसे स्पृष्ट आकाशके प्रदेशोंके द्वाराही मापा जाता है और कुछका प्रमाण आकाशके अस्पृष्ट प्रदेशोंसे मापा जाता है। अतः दृष्टिवादमें वर्णित द्रव्योंके मानमें उपयोगी होनेके कारण वालाग्रोंका निर्देश करना सप्रयोजन ही है, निष्प्रयोजन नहीं है।

१ "एएहिं सुहुमेहिं खेत्तप० सागरोवमेहिं किं पओअणं? एएहिं सुहुमपलि० साग० दिट्ठिवाए दव्वा मविज्जंति।" अनुयोग० सू० १४० पृ० १९३ पू०।

२ दिगम्बर साहित्यमें पल्योपमका जो वर्णन मिलता है वह उक्त वर्णन

भावार्थ—इस गाथामें पुद्गलपरावर्तके भेद और पुद्गलपरावर्तकाल का प्रमाण सामान्यसे बतलाया है। एक पुद्गलपरावर्तकालमें अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी बीत जाती हैं। इन परावर्तों का स्वरूप आगे बतलाते हैं।

पहले बादर और सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तका स्वरूप कहते हैं—

उरलाइसत्तगेणं एगजिउ मुयइ फुसिय सव्वअणू।
जत्तियकालि स थूलो दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥

अर्थ—जितने कालमें एक जीव समस्तलोकमें रहनेवाले समस्त परमाणुओंको औदारिक शरीर आदि सात वर्गणारूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने कालको बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्त कहते हैं। और जितने कालमें समस्त परमाणुओंको औदारिक शरीर आदि सात वर्गणाओंमें से किसी एक वर्गणारूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने कालको सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

भावार्थ—गाथा ७५-७६ के व्याख्यानमें बतला आये हैं कि यह लोक अनेक प्रकारकी पुद्गलवर्गणाओंसे भरा हुआ है। तथा, वहींपर उन वर्गणाओंका स्वरूप भी बतला आये हैं। उन वर्गणाओंमें आठ वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य बतलाई हैं, अर्थात् वे जीवके द्वारा ग्रहणकी जाती हैं, जीव उन्हें ग्रहण करके

---

१ द्रव्य पुद्गलपरावर्तका स्वरूप पञ्चसङ्ग्रहमें निम्नप्रकारसे बतलाया है—
"संसारम्मि अडंतो, जाव य कालेण फुसिय सव्वाणू।
इगु जीव मुयइ बायर, अन्नयरतणुट्ठिओ सुहुमो ॥ ७२ ॥"
अर्थ-संसारमें भ्रमण करता हुआ एक जीव, जितने कालमें समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोड़देता है, उतने कालको बादर पुद्गलपरावर्त कहते हैं। और किसी एक शरीरके द्वारा जब समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोड़ देता है तो उसे सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

उनसे अपना शरीर, वचन, मन वगैरहकी रचना करता है। वे वर्गणाएँ हैं— औदारिकग्रहणयोग्य वर्गणा, वैक्रियग्रहणयोग्य वर्गणा, आहारक ग्रहणयोग्य वर्गणा, तैजसग्रहणयोग्य वर्गणा, भाषाग्रहणयोग्य वर्गणा, आनप्राणग्रहण-योग्य वर्गणा, मनोग्रहणयोग्य वर्गणा और कार्मणग्रहणयोग्य वर्गणा। जितने समयमें एक जीव समस्त परमाणुओंको अपने औदारिक, वैक्रिय, तैजस, भाषा, आनप्राण, मन और कार्मणशरीररूप परिणमाकर उन्हें भोगकर छोड़ देता है उसे बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं। यहाँ आहारक शरीरको छोड़ दिया है, क्योंकि आहारकशरीर एक जीवके अधिकसे अधिक चार बार ही हो सकता है। अतः वह पुद्गलपरावर्तके लिये उपयोगी नहीं है।

तथा, जितने समयमें समस्त परमाणुओंको औदारिक आदि सात वर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणारूप परिणमा कर उन्हें ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने समयको सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्त कहते हैं। आशय यह है कि बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तमें तो समस्तपरमाणुओंको सातरूपसे भोग कर छोड़ता है और सूक्ष्ममें उन्हें केवल किसी एक रूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है। यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि यदि समस्त परमाणुओंको एक औदारिकशरीररूप परिणमाते समय मध्य मध्यमें कुछ परमाणुओंको वैक्रिय आदि शरीररूप ग्रहण करके छोड़दे, या समस्त पर-माणुओंको वैक्रियशरीररूप परिणमाते समय मध्य मध्यमें कुछ परमाणुओंको

१ "आहारकशरीरं चोत्कृष्टतोऽप्येकजीवस्य वारचतुष्टयमेव सम्भवति, ततस्तस्य पुद्गलपरावर्तं प्रत्यनुपयोगान्न ग्रहणं कृतमिति ॥"
प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०।

२ 'एतस्मिन् सूक्ष्मे द्रव्यपुद्गलपरावर्ते विवक्षितैकशरीरव्यति-रेकेणान्यशरीरतया ये परिभुज्य परिभुज्य परित्यजन्ते ते न गण्यन्ते, किन्तु प्रभूतेऽपि काले गते सति ये च विवक्षितैकशरीररूपतया परिणम्यन्ते त एव गण्यन्ते।' प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०।

औदारिक आदि शरीररूपसे ग्रहण करके छोड़ दे तो वे गणना में नहीं लिये जाते। जिस शरीररूप परिवर्तन चालू है, उसी शरीररूप जो पुद्गलपरमाणु ग्रहण करके छोड़े जाते हैं, उन्हींको सूक्ष्ममें ग्रहण किया जाता है।

द्रव्य पुद्गलपरावर्तके बारेमें एक दूसरा मत भी है, जो इस प्रकार है—समस्त पुद्गलपरमाणुओंको औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण, इन चार शरीररूप ग्रहण करके छोड़ देनेमें जितना काल लगता है, उसे बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं। और समस्त पुद्गलपरमाणुओंको उक्त चारों शरीरोंमेंसे किसी एक शरीररूप परिणमा कर छोड़ देनेमें जितना काल लगता है उतने कालको सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

द्रव्यपुद्गल परावर्तका स्वरूप बतलाकर अब शेष तीन पुद्गलपरावर्तोंका स्वरूप बतलाते हैं—

लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य।
जह तह कममरणेणं पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥८८॥

अर्थ—एक जीव अपने मरणके द्वारा लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंको

---

१ "अहव इमो दव्वाइ ओरालविउव्वतेयकम्मेहिं।
नीसेसदव्वगहणंमि बायरो होइ परियट्टो ॥ ४१ ॥"

प्रवचन०, पृ० ३०७ उ०।

"एके तु आचार्या एवं द्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूपं प्रतिपादयन्ति—तथाहि, यदैको जीवोऽनेकैर्भवग्रहणैरौदारिकशरीरवैक्रियशरीरतैजसशरीरकार्मणशरीरचतुष्टयरूपतया यथार्हं सकललोकवर्तिनः सर्वान् पुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति तदा बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति। यदा पुनरौदारिकादिचतुष्टयमध्यादेकेन केनचिच्छरीरेण सर्वपुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति शेषशरीरपरिणमितास्तु पुद्गला न गृह्यन्ते एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति"। पञ्चसं० स्वोपज्ञ टी० पृ० १०३।

अन्तर है कि बादरमें तो क्रमका विचार नहीं किया जाता, उसमें व्यवहित प्रदेशमें मरण करनेपर भी यदि वह प्रदेश पूर्वस्पृष्ट नहीं है तो उसका ग्रहण होता है। अर्थात् वहां क्रमसे या बिना क्रमके समस्त प्रदेशोंमें मरणकर लेना ही पर्याप्त समझा जाता है। किन्तु सूक्ष्ममें समस्त प्रदेशोंमें क्रमसे ही मरण करना चाहिये। अक्रमसे जिन प्रदेशोंमें मरण होता है उनकी गणना नहीं की जाती। इससे स्पष्ट है कि पहलेसे दूसरेमें समय अधिक लगता है।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तके सम्बन्धमें एक बात और भी ज्ञातव्य है। वह यह कि एक जीवकी जघन्य अवगाहना लोकके असंख्यातवें भाग बतलाई है। अतः यद्यपि एक जीव लोकाकाशके एक प्रदेशमें नहीं रह सकता, तथापि किसी देशमें मरण करनेपर उस देशका कोई एक प्रदेश आधार मान लिया जाता है। अतः यदि उस विवक्षित प्रदेशसे दूरवर्ती किन्हीं प्रदेशोंमें मरण करता है तो वे गणनामें नहीं लिये जाते। किन्तु अनन्तकाल बीत जानेपर भी जब कभी विवक्षित प्रदेशके अनन्तर जो प्रदेश है, उसीमें मरण करता है, तो वह गणनामें लिया जाता है। किन्हीं किन्हींका मत है कि लोकाकाशके जिन प्रदेशोंमें मरण करता है, वे सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं, उनका मध्यवर्ती कोई विवक्षित प्रदेश ग्रहण नहीं किया जाता।[1]

जितने समयमें एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें क्रमवार या बिना क्रमके मरण कर चुकता है, उतने कालको बादर काल पुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा, कोई एक जीव किसी विवक्षित अवसर्पिणी कालके पहले समयमें मरा, पुनः उसके दूसरे समयमें मरा, पुनः तीसरे समयमें मरा, इस प्रकार क्रमवार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें जब मरण कर चुकता है, तो उसे सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्त कहते

[1] "अन्ये तु व्याचक्षते-येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढो जीवो म्रियते सर्वेऽपि आकाशप्रदेशाः गण्यन्ते, न पुनस्तन्मध्यवर्ती विवक्षितः कश्चिदेक एवाकाशप्रदेश इति ॥" प्रवचन० टी०, पृ० ३०९ उ०।

पदसे अभीष्ट है। वह परमाणु आकाशके जितने भागमें समाता है उसे प्रदेश कहते हैं। और वह प्रदेश क्षेत्र अर्थात् लोकाकाशका ही,क्योंकि जीव लोकाकाशमेंही रहता है, एक अंश है। पुद्गलका एक परमाणु आकाशके एक प्रदेशसे उसीके समीपवर्ती दूसरे प्रदेशमें जितने समयमें पहुँचता है, उसे समय कहते हैं। यह कालका सबसे छोटा हिस्सा है। भावसे यहां अनुभागबन्धके कारणभूत जीवके कषायरूप भाव लिये गये हैं। इन्हीं द्रव्य,क्षेत्र, काल और भावके परिवर्तनको लेकर चार परिवर्तनोंकी कल्पनाकी गई है। जब जीव पुद्गलके एक एक परमाणुको करके समस्त परमाणुओंको भोग लेता है तो वह द्रव्य पुद्गल परावर्त कहाता है। जब आकाशके एक एक प्रदेशमें मरण करके समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें मर चुकता है, तब एक क्षेत्र पुद्गलपरावर्त कहाता है। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये। वास्तवमें जब जीव अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण कर रहा है, तो अब तक एक भी परमाणु ऐसा नहीं बचा है जिसे इसने न भोगा हो, आकाशका एक भी प्रदेश ऐसा बाकी नहीं है, जहाँ यह मरा न हो, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालका एक भी ऐसा समय बाकी नहीं है, जिसमें यह न मरा हो और ऐसा एक भी कषायस्थान बाकी नहीं है, जिसमें यह न मरा हो। प्रत्युत उन परमाणु, प्रदेश, समय और कषायस्थानोंको यह जीव अनेक बार अपना चुका है। उसीको दृष्टिमें रखकर द्रव्य पुद्गलपरावर्त आदि नामोंसे कालका विभाग कर दिया है। जो पुद्गलपरावर्त जितने कालमें होता है उतने कालके प्रमाणको उस पुद्गल परावर्तके नामसे पुकारा जाता है। यद्यपि द्रव्य पुद्गलपरावर्तनके सिवाय अन्य किसी भी परावर्तमें पुद्गलका परावर्तन नहीं होता; क्योंकि क्षेत्र पुद्गलपरावर्तमें क्षेत्रका, काल पुद्गलपरावर्तमें कालका और भाव पुद्गलपरावर्तमें भावका परावर्तन होता है, किन्तु पुद्गलपरावर्तका काल अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके बराबर बतलाया है और क्षेत्र, काल और

भाव परावर्तका काल भी अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी होता है, अतः इन परावर्तोंकी भी पुद्‌गलपरावर्त[1] संज्ञा[2] रख दी है।

---

१ "पुद्‌गलानां=परमाणूनाम् औदारिकादिरूपतया विवक्षितैकशरीर-रूपतया वा सामस्त्येन परावर्तः=परिणमनं यावति काले स तावान् कालः पुद्‌गलपरावर्तः। इदं च शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं, अनेन च व्युत्पत्तिनिमित्तेन स्वैकार्थसमवायिप्रवृत्तिनिमित्तमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणी-मानस्वरूपं लक्ष्यते। तेन क्षेत्रपुद्‌गलपरावर्तादौ पुद्‌गलपरावर्तना-भावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्तस्यानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपस्य विद्य-मानत्वात् पुद्‌गलपरावर्तशब्दः प्रवर्तमानो न विरुद्ध्यते।"

प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०।

२ दिगम्बरसाहित्य में ये परावर्त पञ्चपरिवर्तनके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनके नाम क्रमशः द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन हैं। द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं–नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन। इनका स्वरूप निम्नप्रकार है–

नोकर्मद्रव्यप०–एक जीवने तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको एक समयमें ग्रहण किया और दूसरे आदि समयोंमें उनकी निर्जरा कर दी। उसके बाद अनन्त बार अग्रहीत पुद्‌गलोंको ग्रहण करके, अनन्त बार मिश्र पुद्गलोंको ग्रहण करके और अनन्तबार ग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण करके छोड़ दिया। इस प्रकार वे ही पुद्गल जो एक समयमें ग्रहण किये थे, उन्हीं भावोंसे उतने ही रूप, रस, गन्ध और स्पर्शको लेकर जब उसी जीवके द्वारा पुनः नोकर्मरूपसे ग्रहण किये जाते हैं तो उतने कालके परिमाण-को नोकर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

कर्मद्रव्यप०–इसी प्रकार एक जीवने एक समय में आठ प्रकारके कर्मरूप होनेके योग्य कुछ पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक

आवलीके बाद उनकी निर्जरा करदी। पूर्वोक्त क्रमसे वे ही पुद्गल उस प्रकारसे जब उसी जीवके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तो उतने कालको कर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तनको मिलाकर एक द्रव्यपरिवर्तन या पुद्गलपरिवर्तन होता है, और दोनोंमें से एक को अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं।

क्षेत्रपरिवर्तन–सबसे जघन्य अवगाहनाका धारक सूक्ष्म निगोदिया जीव लोकके आठ मध्यप्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और मरगया। वही जीव उसी अवगाहनाको लेकर वहां दुबारा उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्रमें जितने प्रदेश होते हैं, उतनी बार उसी अवगाहनाको लेकर वहां उत्पन्न हुआ और मरगया। उसके बाद एक एक प्रदेश बढ़ाते बढ़ाते जब समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंको अपना जन्मक्षेत्र बना लेता है, तो उतने कालको एक क्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

कालपरिवर्तन–एक जीव उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ और आयु पूरी करके मर गया। वही जीव दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूरी होजानेके बाद मर गया। वही जीव तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ और उसी तरह मर गया। इस प्रकार वह उत्सर्पिणीकालके समस्त समयोंमें उत्पन्न हुआ और इसी प्रकार अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंमें उत्पन्न हुआ। उत्पत्तिकी तरह मृत्युका भी क्रम पूरा किया। अर्थात् पहली उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें मरा, दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें मरा। इसी तरह पहली अवसर्पिणीके पहले समय में मरा, दूसरी अवसर्पिणीके दूसरे समयमें मरा। इस प्रकार जितने समयमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंको अपने जन्म और मृत्युसे स्पृष्ट कर लेता है, उतने समयका नाम कालपरिवर्तन है।

भवपरिवर्तन—नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष है। कोई जीव उतनी आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। मरनेके बाद नरकसे निकलकर पुनः उसी आयुको लेकर दुबारा नरकमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार दसहजार वर्षमें जितने समय होते हैं, उतनी बार उसी आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। उसके बाद एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ, फिर दो समय अधिक दसहजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते नरकगतिकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर पूर्ण की। उसके बाद तिर्यञ्चगतिको लिया। तिर्यञ्चगतिमें अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मर गया। उसके बाद उसी आयुको लेकर पुनः तिर्यञ्चगतिमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तमें जितने समय होते हैं, उतनी बार अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। उसके बाद पूर्वोक्त प्रकारसे एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते तिर्यञ्चगतिकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूरी की। तिर्यञ्चगतिकी ही तरह मनुष्यगतिका काल पूरा किया और नरक गतिकी तरह देवगतिका काल पूरा किया। देवगतिमें केवल इतना अन्तर है कि ३१ सागरकी आयु पूरी करने पर ही भवपरिवर्तन पूरा हो जाता है; क्योंकि ३१ सागरसे अधिक आयुवाले देव नियमसे सम्यग्दृष्टि होते हैं, और वे एक या दो मनुष्य भवधारण करके मोक्ष चले जाते हैं। इस प्रकार चारों गतिकी आयुको भोगनेमें जितना काल लगता है, उसे भवपरिवर्तन कहते हैं।

भावपरिवर्तन—कर्मोंकी एक एक स्थितिबन्धके कारण असंख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसायस्थान हैं। और एक एक कषायस्थानके कारण असंख्यातलोक प्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान हैं। किसी पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवने ज्ञानावरण कर्मका अन्तः कोटाकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिबन्ध किया। उसके उस समय सबसे जघन्य कषायस्थान

विस्तारसे पुद्गल परावर्तका स्वरूप बतलाकर, अब सामान्यसे उ
प्रदेशबन्ध और जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामीको बतलाते हैं—

अप्पयरपयडिबंधी उक्कडजोगी य सन्निपज्जत्तो।
कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥

और सबसे जघन्य अनुभागस्थान तथा सबसे जघन्य योगस्थान था
दूसरे समयमें वही स्थितिबन्ध वही कषायस्थान और
अनुभागस्थान रहा, किन्तु योगस्थान दूसरे नम्बरका हो गया।
प्रकार उसी स्थितिबन्ध, कषायस्थान और अनुभागस्थानके साथ श्रेणि
असंख्यातवें भाग प्रमाण समस्त योगस्थानोंको पूर्ण किया। योगस्थानों
समाप्तिके बाद, स्थितिबन्ध और कषायस्थान तो वही रहा, किन्तु अनुभा
स्थान दूसरा बदल गया। उसके भी पूर्ववत् समस्त योगस्थान पूर्ण किये
इस प्रकार अनुभागाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होने पर उसी स्थितिबन्ध
साथ दूसरा कषायस्थान हुआ। उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थ
पूर्ववत् समाप्त किये। पुनः तीसरा कषायस्थान हुआ, उसके भी अनुभा
स्थान और योगस्थान पूर्ववत् समाप्त किये। इस प्रकार समस्त कषायस्थानों
के समाप्त हो जानेपर उस जीवने एक समय अधिक अन्तः कोटीकोटी साग
प्रमाण स्थितिबन्ध किया। उसके भी कषायस्थान, अनुभागस्थान औ
योगस्थान पूर्ववत् पूर्ण किये। इस प्रकार एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते ज्ञान
वरणकी तीस कोटीकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति पूरी की। इसी तर
जब वह जीव सभी मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों की स्थिति पूरी क
लेता है तब उतने कालको भावपरिवर्तन कहते हैं।

इन सभी परिवर्तनोंमें क्रमका ध्यान रखा गया है। अक्रमसे जो क्रिय
होती है वह गणनामें नहीं ली जाती। अर्थात् सूक्ष्म पुद्गलपरिवर्तनोंमें जो
व्यवस्था है वही व्यवस्था यहां भी समझना चाहिये।

अर्थ—थोड़ी प्रकृतियोंका बांधनेवाला, उत्कृष्ट योगका धारक, पर्याप्त संज्ञी जीव उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है। और उससे विपरीत अर्थात् बहुत प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाला, जघन्य योगका धारक, अपर्याप्त असंज्ञी जीव जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

भावार्थ—इस गाथामें यद्यपि उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध और जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामीका निर्देश किया है, किन्तु उनमें जिन जिन बातोंका होना आवश्यक बतलाया है, उनसे उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेश बन्धकी सामग्रीपर प्रकाश पड़ता है। उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके कर्ताके लिये चार बातें आवश्यक बतलाई हैं—एक तो वह थोड़ी प्रकृतियोंका बांधनेवाला होना चाहिये; क्योंकि पहले कर्मोंके बटवारेमें लिख आये हैं कि एक समयमें जितने पुद्गलोंका बन्ध होता है, वे उन सब प्रकृतियोंमें विभाजित हो जाते हैं, जो उस समय बंधती हैं। अतः यदि बंधनेवाली प्रकृतियोंकी संख्या अधिक होती है तो बटवारेमें प्रत्येकको थोड़े थोड़े दलिक मिलते हैं और यदि उनकी संख्या कम होती है तो बटवारेमें अधिक अधिक दलिक मिलते हैं। तथा, जैसे अधिक द्रव्यकी प्राप्तिके लिये भागीदारोंका कम होना आवश्यक है वैसेही अधिक आयका होना भी आवश्यक है। इसीलिए दूसरी आवश्यक बात यह बतलाई है कि उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका कर्ता उत्कृष्ट योगवाला भी होना चाहिये; क्योंकि प्रदेशबन्धका कारण योग है और योग यदि तीव्र होता है तो अधिक संख्यामें कर्मदलिकोंका आत्माके साथ सम्बन्ध होता है और यदि मन्द होता है तो कर्मदलिकोंकी संख्यामें भी कमी रहती है। अतः उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके लिये उत्कृष्ट योगका होना आवश्यक है। तीसरी आवश्यक बात यह है कि उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका कर्ता पर्याप्तक होना चाहिये,

---

१ इस गाथाकी तुलना करो—

"अप्पतरपगइबन्धे उक्कडजोगी उ सन्निपज्जत्तो।
कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥ २९८॥" पञ्चसं०।

क्योंकि अपर्याप्तक जीव अति अल्प आयुवाला और अल्प शक्तिवाला
है अतः वह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नहीं कर सकता। चौथी आवश्यक
यह है कि वह संज्ञी होना चाहिये, क्योंकि पर्याप्तक होकर भी यदि
नहीं हुआ तो उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नहीं कर सकता; क्योंकि असंज्ञी
शक्ति भी अपरिपूर्ण रहती है।

इससे विपरीत दशामें अर्थात् यदि बहुत प्रकृतियोंका बन्ध
वाला हो, योग भी मन्द हो, और अपर्याप्तक तथा असंज्ञी हो तो
प्रदेशबन्ध करता है। पीछे गाथा ५२-५४ में योगोंका अल्पबहुत्व
हुए सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके सबसे जघन्य योग बतलाया है
संज्ञी पर्याप्तकके सबसे उत्कृष्ट योग बतलाया है। अतः 'उक्कड़जोगी
देनेसे यद्यपि संज्ञी पर्याप्तकका बोध हो ही जाता है, तथापि स्पष्टताके
ऐसा कह दिया है। किन्तु उत्कृष्ट योग होनेपर भी बहुतसे जीव अ
प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, अतः उत्कृष्ट योगके साथ थोड़ी प्रकृ
का बन्ध होना आवश्यक बतलाया है। इस प्रकार उत्कृष्ट और ज
प्रदेशबन्धकी सामग्री जाननी चाहिये।

सामान्यसे उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध और जघन्य प्रदेशबन्धके स्वा
बतलाकर अब मूल और उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षासे उत्कृष्ट प्रदेशब
स्वामीको बतलाते हैं—

मिच्छ अजयचउ आऊ बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छ
छण्हं सतरस सुहुमो अजया देसा बितिकसाए ॥ ९०

अर्थ—आयु कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि और अ

१ कर्म्मकाण्डमें भी इसी सामग्रीका निर्देश किया है। यथा—
"उक्कडजोगो सण्णी पज्जत्तो पयडिबंधमप्पदरो।
कुणदि पदेसुक्कसं जहण्णए जाण विवरीयं ॥ २१० ॥"

आदि चार अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त करते हैं। मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध दूसरे और तीसरे गुणस्थानके सिवाय मिथ्यात्व आदि सात गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीव करते हैं। शेष छह कर्म और उनकी सतरह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सूक्ष्म साम्परायनामक दसवें गुणस्थानमें रहनेवाले जीव करते हैं। द्वितीय कषाय अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं। तथा, तृतीय कषाय अर्थात् प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध देशविरत करते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें मूल तथा कुछ उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामियोंको गिनाया है। उनमेंसे आयुकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध पहले, चौथे, पाँचवे, छठे और सातवें गुणस्थानमें बतलाया है। शेष गुणस्थानोंमें आयुकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध न बतलानेका कारण यह है कि तीसरे और आठवें आदि गुण स्थानोंमें तो आयुकर्मका बन्ध ही नहीं होता। तथा, यद्यपि दूसरे गुणस्थानमें आयुकर्मका बन्ध होता है

१ इसी गाथाकी स्वोपज्ञ टीकामें, द्वितीय गुणस्थानमें उत्कृष्ट योगका अभाव बतलाते हुए निम्न लिखित उपपत्तियां दी हैं—

आगे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी कषायके उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके सादि और अध्रुव दो ही प्रकार बतलायेंगे। तथा सास्वादनमें अनन्तानुबन्धीका बन्ध तो होता ही है। अतः यदि वहां उत्कृष्ट योग होता, तो जैसे अविरत आदि गुणस्थानोंमें अप्रत्याख्यानावरण आदि प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होनेके कारण वहां उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके भी सादि वगैरह चारों विकल्प बतलायेंगे, वैसे ही सास्वादनमें अनन्तानुबन्धीका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होनेके कारण उसके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके सादि वगैरह चारों विकल्प भी बतलाने चाहिये थे। किन्तु वे नहीं बतलाये हैं, अतः ज्ञात होता है कि या तो सास्वादनका काल थोड़ा होनेके कारण वहां

किन्तु वहाँ उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका कारण उत्कृष्ट योग नहीं होता । अतः शेष गुणस्थानोंमें आयुकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नहीं बतलाया है ।

मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सासादन और मिश्र गुणस्थानके सिवाय मिथ्यादृष्टि, अविरत, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन सात गुणस्थानोंमें बतलाया है । सासादन और मिश्र

इस प्रकारका प्रयत्न नहीं हो सकता या अन्य किसी कारणसे सासादनमें उत्कृष्ट योग नहीं होता । तथा, आगे मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियोंका सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानोंमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतलाकर शेष प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध वगैरह मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें बतलायेंगे । इससे भी पता चलता है कि सासादनमें उत्कृष्ट योग नहीं होता । इस प्रकार सासादनमें उत्कृष्ट योगका अभाव बतलाकर लिखा है—"अतो ये सास्वादनमप्यायुष उत्कृष्टं प्रदेशस्वामिनमिच्छन्ति तन्मतमुपेक्षणीयमिति स्थितम् ।" अर्थात् 'इस लिये जो सास्वादनको भी आयुकर्मके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी कहते हैं, उनका मत उपेक्षाके योग्य है ।' इससे पता चलता है कि कोई कोई आचार्य सास्वादनमें आयुकर्मके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको मानते हैं ।

१ मिश्र गुणस्थानमें उत्कृष्टयोग न होनेके सम्बन्धमें, निम्न युक्तियाँ स्वोपज्ञ टीकामें दी हैं। दूसरी कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अविरत गुणस्थानमें ही बतलाया है। यदि मिश्रमें भी उत्कृष्टयोग होता तो उसमें भी दूसरी कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतलाया जाता। शायद कहा जाये कि अविरत गुणस्थानमें मिश्र गुणस्थानसे कम प्रकृतियां बंधती हैं अतः अविरतको ही उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी बतलाया है । किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि साधारण अवस्थामें अविरतमें भी सात ही कर्मोंका बन्ध होता है और मिश्रमें तो सात कर्मोंका बन्ध होता ही है । तथा अविरतमें भी मोहनीयकी सतरह प्रकृतियोंका बन्ध होता है और मिश्रमें भी उसकी सतरह प्रकृतियोंका बन्ध

गुणस्थानमें उत्कृष्ट योग नहीं होता, अतः वहां उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी नहीं होता।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय का उत्कृष्ट-प्रदेशबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानमें होता है। सूक्ष्मसाम्परायमें उत्कृष्टयोग तो होता ही है। तथा, वहां मोहनीय और आयुकर्मका बन्ध भी नहीं होता, अतः थोड़े कर्मोंका बन्ध होनेके कारण उसका ही ग्रहण किया है। तथा उत्तर प्रकृतियोंमें से पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, सातवेदनीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तरायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानमें होता है; क्योंकि ऊपर लिख आये हैं कि मोहनीय और आयुकर्मका बन्ध न होनेके कारण उनका भाग भी शेष छह कर्मोंको ही मिल जाता है। तथा, दर्शनावरणका भाग उसकी चार प्रकृतियोंको और नामकर्मका भाग उसकी एक प्रकृतिको मिलजाता है, अतः उनका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी वहीं होता है।

द्वितीय कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अविरतसम्यग्दृष्टि करता है। इस गुणस्थानमें मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीका बन्ध नहीं होता। अतः उनका भाग भी शेषको मिल जाता है। तथा, तीसरी कषायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध देशविरत गुणस्थानमें होता है, इस गुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरण कषायका भी बन्ध नहीं होता। अतः उनका द्रव्य भी शेषको मिलजाता है। इस प्रकार मूल प्रकृतियों और कुछ उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामियोंका निर्देश इस गाथामें किया है।

पण अनियट्टी सुखगइ-नराउ-सुर-सुभगतिग-विउव्विदुगं।
समचउरंसमसायं वइरं मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥

होता है। अतः चित्रमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके न बतलानेमें उत्कृष्ट योगके अभावके सिवाय कोई दूसरा कारण प्रतीत नहीं होता।

अर्थ—पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ, इन पाँच प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अनिवृत्तिबादर नामक गुणस्थानमें होता है। प्रशस्त विहायोगति, मनुष्यायु, सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, और देवायु), सुभगत्रिक (सुभग, सुस्वर और आदेय), वैक्रियद्विक, समचतुरस्रसंस्थान, असातवेदनीय, वज्रऋषभनाराच संहनन, इन तेरहप्रकृतियों-का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें १८ उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामी बतलाये हैं। उनमेंसे पुरुषवेद और संज्वलन चतुष्कका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नौवे गुणस्थानमें होता है क्योंकि छह नोकषायोंका बन्ध न होनेके कारण उनका भाग पुरुषवेद को मिलजाता है। तथा पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छिति होनेके बाद संज्वलनचतुष्कका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, क्योंकि मिथ्यात्व, आदि की बारह कषाय और नोकषाय का सब द्रव्य उसे ही मिल जाता है। तथा, प्रशस्त विहायोगति वगैरह तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं; क्योंकि उनके यथायोग्य उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके कारण पाये जाते हैं।

निद्दा-पयला-दुजुयल-भय-कुच्छा-तित्थ सम्मगो सुजई।
आहारदुगं सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥

अर्थ—निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा, तीर्थङ्कर, इन नौ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है। आहारकद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सुयति अर्थात् अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थानमें रहने वाले मुनि करते हैं। और शेष प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि जीव करता है।

भावार्थ—निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध चौथे गुणस्थान-

से लेकर आठवें गुणस्थान तकके उत्कृष्टयोगवाले सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं। सम्यग्दृष्टिके स्त्यानर्द्धित्रिकका बन्ध न होनेके कारण उनका भाग भी निद्रा और प्रचला को मिल जाता है, अतः सम्यग्दृष्टिका ही ग्रहण किया है। यद्यपि मिश्रमें भी स्त्यानर्द्धित्रिकका बन्ध नहीं होता, किन्तु वहां उत्कृष्ट योग भी नहीं होता अतः उसका ग्रहण नहीं किया है।

हास्य, रति, शोक, अरति, भय और जुगुप्साका चौथे गुणस्थान-से लेकर आठवें गुणस्थानों तक जिन जिन गुणस्थानों में बन्ध होता है, उन गुणस्थानवाले उत्कृष्टयोगी सम्यग्दृष्टि जीव उनका उत्कृष्ट प्रदेश बन्ध करते हैं। तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध तो सम्यग्दृष्टिके ही होता है। इसी तरह आहारकद्विक का बन्ध भी सातवें और आठवें गुणस्थानमें ही होता है। अतः उनका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी सम्यग्दृष्टिके ही बतलाया है। इस प्रकार ५४ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामी बतलाकर शेष ६६ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी मिथ्यादृष्टि को ही बतलाया है। जिसका विवरण इस प्रकार है—

मनुष्यद्विक, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिकद्विक, तैजस, कार्मण, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिरद्विक शुभद्विक, अयशःकीर्ति, और निर्माण, इन पच्चीस प्रकृतियोंके सिवाय शेष ४१ प्रकृतियां तो सम्यग्दृष्टिके बन्धती ही नहीं हैं। उनमेंसे कुछ प्रकृतियाँ यद्यपि सास्वादनमें बन्धती हैं, किन्तु वहां उत्कृष्टयोग नहीं होता। अतः ४१ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्या-दृष्टि ही करता है। शेष पच्चीस प्रकृतियोंमेंसे औदारिक, तैजस, कार्मण, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, बादर, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, निर्माण, इन पन्द्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नाम-कर्मके तेईसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक जीवोंके ही होता है और शेष दस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नामकर्मके पच्चीसप्रकृतिक बन्ध-

अर्थ—पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ; इन पाँच प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अनिवृत्तिबादर नामक गुणस्थानमें होता है। प्रशस्त विहायोगति, मनुष्यायु, सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, और देवायु), सुभगत्रिक (सुभग, सुस्वर और आदेय), वैक्रियद्विक, समचतुरस्रसंस्थान, असातवेदनीय, वज्रऋषभनाराच संहनन, इन तेरहप्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें १८ उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामी बतलाये हैं। उनमेंसे पुरुषवेद और संज्वलन चतुष्कका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नौवे गुणस्थानमें होता है क्योंकि छह नोकषायोंका बन्ध न होनेके कारण उनका भाग पुरुषवेद को मिलजाता है। तथा पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छिति होनेके बाद संज्वलनचतुष्कका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, क्योंकि मिथ्यात्व, आदि की बारह कषाय और नोकषाय का सब द्रव्य उसे ही मिल जाता है। तथा, प्रशस्त विहायोगति वगैरह तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं; क्योंकि उनके यथायोग्य उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके कारण पाये जाते हैं।

निद्दा-पयला-दुजुयल-भय-कुच्छा-तित्थ सम्मगो सुजई।
आहारदुगं सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥

अर्थ—निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा, तीर्थङ्कर, इन नौ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है। आहारकद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सुयति अर्थात् अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थानमें रहने वाले मुनि करते हैं। और शेष प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि जीव करता है।

भावार्थ—निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध चौथे गुणस्थान-

द्रव्य मिलता है। इसलिये इकतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका निर्देश किया है। यहाँ इतना विशेष और भी है कि उस समय परावर्तमान योग होना चाहिये।

इसी तरह परावर्तमान योगवाला असंज्ञी जीव नरकत्रिक और देवायुका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है; क्योंकि पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव तो देवगति और नरकगतिमें उत्पन्न ही नहीं होते, अतः उनके उक्त चारों प्रकृतियोंका बन्ध भी नहीं होता। असंज्ञी अपर्याप्तकके भी न तो इतने विशुद्ध परिणाम होते हैं कि देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध कर सके, और न इतने संक्लेश परिणाम ही होते हैं कि नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध कर सके। अतः गाथामें सामान्यसे निर्देश करनेपर भी असंज्ञी पर्याप्तकका ही ग्रहण करना चाहिये। असंज्ञी पर्याप्तक भी यदि एक ही योगमें चिरकाल तक रहनेवाला लिया जायेगा तो वह तीव्र योगवाला हो जायेगा, अतः परावर्तमान योगका ग्रहण किया है; क्योंकि योगमें परिवर्तन होते रहते तीव्रयोग नहीं हो सकता। अतः परावर्तमान योगवाला, आठ कर्मोंका बन्धक, पर्याप्तक असंज्ञी जीव अपने योग्य जघन्य योगके रहते हुए उक्त चारों प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

सुरद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है। जिसका विवरण इस प्रकार है—कोई मनुष्य तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करके देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहाँ वह प्रथम समयमें ही मनुष्यगतिके योग्य तीर्थङ्करप्रकृतिसहित नामकर्मके तीसप्रकृतिक स्थानका बन्ध करता हुआ तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। यद्यपि नरकगतिमें भी तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध होता है, किन्तु देवगतिमें जघन्ययोगवाले अनुत्तरवासी देवोंका ग्रहण किया जाता है, और नरकगतिमें इतना जघन्ययोग नहीं होता। अतः नरकगतिके सम्यग्दृष्टि जीवके उक्त

स्थानके बन्धक जीवोंके ही होता है, शेषके नहीं होता। तथा तेईस और पच्चीस का बन्ध मिथ्यादृष्टि के ही होता है। अतः शेष पचास प्रकृतियों का भी उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध उत्कृष्ट योगवाले मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं। इस प्रकार समस्त प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामियोंका निर्देश किया है।

उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाकर अब जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंका निर्देश करते हैं—

सुमुणी दुन्नि असन्नी निरयतिग-सुराउ-सुर-विउव्विदुगं।
संमो जिणं जहन्नं सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥

अर्थ—सुमुनि अर्थात् अप्रमत्तमुनि आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्गका जघन्य प्रदेशबन्ध करते हैं। असंज्ञी जीव नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) और सुरायुका जघन्य प्रदेशबन्ध करते हैं। सुरद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं। और शेष प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्मनिगोदिया जीव प्रथम समयमें करता है।

भावार्थ—इस गाथामें जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाया है। सामान्यसे आहारकद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध सातवें गुणस्थानमें रहनेवाले मुनि करते हैं। विशेषसे, जिस समयमें आठों कर्मोंका बन्ध करते हुए वे नामकर्मके इकतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करते हैं और योग [illegible] जघन्य होता है, उस समय ही उनके आहारकद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध होता है। यद्यपि नामकर्मके तीसप्रकृतिक बन्धस्थानमें भी आहारकद्विक सम्मिलित है, किन्तु इकतीसमें एक प्रकृति अधिक होनेके कारण, बटवारेके समय [illegible]

१ कर्मप्रकृति गा० ९२ से ९८ तकमें मूल और उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्टप्रदेशबन्धके स्वामी बतलाये हैं, जो प्रायः कर्मग्रन्थके अनुकूल ही हैं

द्रव्य मिलता है। इसलिये इकतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका निर्देश किया है। यहाँ इतना विशेष और भी है कि उस समय परावर्तमान योग होना चाहिये।

इसी तरह परावर्तमान योगवाला असंज्ञी जीव नरकत्रिक और देवायुका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है; क्योंकि पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव तो देवगति और नरकगतिमें उत्पन्न ही नहीं होते, अतः उनके उक्त चारों प्रकृतियोंका बन्ध भी नहीं होता। असंज्ञी अपर्याप्तकके भी न तो इतने विशुद्ध परिणाम होते हैं कि देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध कर सके, और न इतने संक्लेश परिणाम ही होते हैं कि नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध कर सके। अतः गाथामें सामान्यसे निर्देश करनेपर भी असंज्ञी पर्याप्तकका ही ग्रहण करना चाहिये। असंज्ञी पर्याप्तक भी यदि एक ही योगमें चिरकाल तक रहनेवाला लिया जायेगा तो वह तीव्र योगवाला हो जायेगा, अतः परावर्तमान योगका ग्रहण किया है; क्योंकि योगमें परिवर्तन होते रहते तीव्रयोग नहीं हो सकता। अतः परावर्तमान योगवाला, आठ कर्मोंका बन्धक, पर्याप्तक असंज्ञी जीव अपने योग्य जघन्य योगके रहते हुए उक्त चारों प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

सुरद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है। जिसका विवरण इस प्रकार है—कोई मनुष्य तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करके देवोंमें उत्पन्न हुआ। वहाँ वह प्रथम समयमें ही मनुष्यगतिके योग्य तीर्थङ्करप्रकृतिसहित नामकर्मके तीसप्रकृतिक स्थानका बन्ध करता हुआ तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। यद्यपि नरकगतिमें भी तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध होता है, किन्तु देवगतिमें जघन्ययोगवाले अनुत्तरवासी देवोंका ग्रहण किया जाता है, और नरकगतिमें इतना जघन्ययोग नहीं होता। अतः नरकगतिके सम्यग्दृष्टि जीवके उक्त

स्थानके बन्धक जीवोंके ही होता है, शेषके नहीं होता। तथा तेईस और पचीस का बन्ध मिथ्यादृष्टि के ही होता है। अतः शेष पचीस प्रकृतियों का भी उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध उत्कृष्ट योगवाले मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं। इस प्रकार समस्त प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामियोंका निर्देश किया है।[1]

उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाकर अब जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंका निर्देश करते हैं—

सुमुणी दुन्नि असन्नी निरयतिग-सुराउ-सुर-विउव्विदुगं।
संमो जिणं जहन्नं सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥

अर्थ—सुमुनि अर्थात् अप्रमत्तमुनि आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्गका जघन्य प्रदेशबन्ध करते हैं। असंज्ञी जीव नरकत्रिक (नरक गति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) और सुरायुका जघन्य प्रदेशबन्ध करते हैं। सुरद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं। और शेष प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्मनिगोदिया जीव प्रथम समयमें करता है।

भावार्थ—इस गाथामें जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाया है। सामान्यसे आहारकद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध सातवें गुणस्थानमें रहनेवाले मुनि करते हैं। विशेषसे, जिस समयमें आठों कर्मोंका बन्ध करते हुए वे नामकर्मके इकतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करते हैं और योग भी जघन्य होता है, उस समय ही उनके आहारकद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध होता है। यद्यपि नामकर्मके तीसप्रकृतिक बन्धस्थानमें भी आहारकद्विक सम्मिलित है, किन्तु इकतीसमें एक प्रकृति अधिक होनेके कारण, बटवारेके समय कम

१ कर्मकाण्ड गा० २११ से २१८ तकमें मूल और उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्टप्रदेशबन्धके स्वामी बतलाये हैं, जो प्रायः कर्मग्रन्थके अनुकूल ही हैं।

द्रव्य मिलता है । इसलिये इकतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका निर्देश किया है । यहाँ इतना विशेष और भी है कि उस समय परावर्तमान योग होना चाहिये ।

इसी तरह परावर्तमान योगवाला असंज्ञी जीव नरकत्रिक और देवायुका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है; क्योंकि पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव तो देवगति और नरकगतिमें उत्पन्न ही नहीं होते, अतः उनके उक्त चारों प्रकृतियोंका बन्ध भी नहीं होता । असंज्ञी अपर्याप्तकके भी न तो इतने विशुद्ध परिणाम होते हैं कि देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध कर सके, और न इतने संक्लेश परिणाम ही होते हैं कि नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध कर सके । अतः गाथामें सामान्यसे निर्देश करनेपर भी असंज्ञी पर्याप्तकका ही ग्रहण करना चाहिये । असंज्ञी पर्याप्तक भी यदि एक ही योगमें चिरकाल तक रहनेवाला लिया जायेगा तो वह तीव्र योगवाला हो जायेगा, अतः परावर्तमान योगका ग्रहण किया है; क्योंकि योगमें परिवर्तन होते रहते तीव्रयोग नहीं हो सकता । अतः परावर्तमान योगवाला, आठ कर्मोंका बन्धक, पर्याप्तक असंज्ञी जीव अपने योग्य जघन्य योगके रहते हुए उक्त चारों प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है ।

सुरद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है । जिसका विवरण इस प्रकार है—कोई मनुष्य तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध करके देवोंमें उत्पन्न हुआ । वहाँ वह प्रथम समयमें ही मनुष्यगतिके योग्य तीर्थङ्करप्रकृतिसहित नामकर्मके तीसप्रकृतिक स्थानका बन्ध करता हुआ तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है । यद्यपि नरकगतिमें भी तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध होता है, किन्तु देवगतिमें जघन्ययोगवाले अनुत्तरवासी देवोंका ग्रहण किया जाता है, और नरकगतिमें इतना जघन्ययोग नहीं होता । अतः नरकगतिके सम्यग्दृष्टि जीवके उक्त

प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध नहीं बतलाया है। तिर्यञ्चगतिमें तीर्थङ्करका बन्ध ही नहीं होता, अतः वह भी उपेक्षणीय है। मनुष्यगतिमें जन्मके प्रथम समयमें तो तीर्थङ्करसहित नामकर्मके उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध होता है अतः प्रकृति कम होनेसे वहाँ भाग अधिक मिलता है। तथा, तीर्थङ्कर-सहित इकतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध संयमीके ही होता है, और वहाँ योग अधिक होता है। अतः तीसप्रकृतिक स्थानके बन्धक देवोंके ही तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है। देवद्विक और वैक्रियद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध देवगति या नरकगतिसे आकर उत्पन्न होनेवाले मनुष्यके उस समय होता है, जब वह देवगतिके योग्य नामकर्मके उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करता है। क्योंकि देव और नारक तो इन प्रकृतियोंका बन्ध ही नहीं करते। भोगभूमिया तिर्यञ्च जन्म लेनेके प्रथम समयमें इनका बन्ध करते हैं, किन्तु वे देवगतिके योग्य अट्ठाईसप्रकृतिक बन्धस्थानका ही बन्ध करते हैं। अतः बटवारेके समय अधिक द्रव्य मिलता है। यही बात अट्ठाईसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक मनुष्यके बारेमें भी समझनी चाहिये। अतः उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक मनुष्यके ही उक्त चार प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है।

शेष १०९ प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक

---

१ कर्मकाण्डमें गा० २१५ से २१७ तक जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाया है। शेष १०९ प्रकृतियोंके बन्धक सूक्ष्मनिगोदिया जीवके बारेमें उसमें कुछ विशेष बात बतलाई है। उसमें लिखा है–

"चरिमअपुण्णभवत्थो तिविग्गहे पढमविग्गहम्मि ठिओ।
सुहुमणिगोदो बंधदि सेसाणं अवरबंधं तु ॥ २१७ ॥"

अर्थात्–ल० अपर्याप्तकके ६०१२ भवोंमेंसे अन्तके भवको धारण करनेके लिये तीन मोड़े लेने समय, पहले मोड़े में स्थित हुआ सूक्ष्म निगोदिया जीव शेष प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

जीव जन्मके प्रथम समयमें करता है, क्योंकि उसके प्रायः सभी प्रकृतियोंका बन्ध होता है, तथा सबसे जघन्य योग भी उसीके होता है ।

जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब प्रदेशबन्धके सादि वगैरह भङ्गोंको बतलाते हैं—

दंसणछग-भय-कुच्छा-बि-ति-तुरियकसाय विग्घनाणाणं ।
मूलछगेऽणुक्कोसो चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥ ९४ ॥

अर्थ—स्त्यानर्द्धित्रिकके सिवाय दर्शनावरणकी शेष ६ प्रकृतियाँ, भय, जुगुप्सा, दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय, तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय, चौथी संज्वलन कषाय, पाँच अन्तराय और पाँच ज्ञानावरण, इन उत्तर-प्रकृतियोंके तथा मोहनीय और आयुकर्मके सिवाय छह मूलप्रकृतियोंके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव चारों भङ्ग होते हैं । तथा, उक्त प्रकृतियोंके शेष तीन बन्धोंके और अवशिष्ट प्रकृतियोंके चारों बन्धोंके सादि और अध्रुव, दो ही विकल्प होते हैं ।

भावार्थ—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्यबन्ध तथा उनके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुवभङ्गोंका स्वरूप पहले बतला आये हैं; क्योंकि प्रत्येक बन्धके अन्तमें मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंमें उनका विचार किया गया है । यहाँ भी प्रदेशबन्धमें उनका विचार किया है । सबसे अधिक कर्म स्कन्धों-

---

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी प्रदेशबन्धके सादि वगैरह भङ्ग इसीप्रकार बतलाये हैं यथा—

'मोहाउयवज्जाणं णुक्कोसो साइयाइओ होइ ।
साई अधुवा सेसा आउगमोहाण सव्वेवि ॥ २९० ॥
नाणंतरायनिद्दा अणवज्जकसाय भयदुगुंछाण ।
दंसणचउपयलाणं चउविगप्पो अणुक्कोसो ॥ २९५ ॥
सेसा साई अधुवा सव्वे सव्वाण सेसपयईणं ।'

प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध नहीं बतलाया है। तिर्यञ्चगतिमें तीर्थङ्करका बन्ध ही नहीं होता, अतः वह भी उपेक्षणीय है। मनुष्यगतिमें जन्मके प्रथम समयमें तो तीर्थङ्करसहित नामकर्मके उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध होता है अतः प्रकृति कम होनेसे वहाँ भाग अधिक मिलता है। तथा, तीर्थङ्कर-सहित इकतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध संयमीके ही होता है, और वहाँ योग अधिक होता है। अतः तीसप्रकृतिक स्थानके बन्धक देवोंके ही तीर्थ-ङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है। देवद्विक और वैक्रियद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध देवगति या नरकगतिसे आकर उत्पन्न होनेवाले मनुष्यके उस समय होता है, जब वह देवगतिके योग्य नामकर्मके उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करता है। क्योंकि देव और नारक तो इन प्रकृतियोंका बन्ध ही नहीं करते। भोगभूमिया तिर्यञ्च जन्म लेनेके प्रथम समयमें इनका बन्ध करते हैं, किन्तु वे देवगतिके योग्य अट्ठाईसप्रकृतिक बन्ध स्थानका ही बन्ध करते हैं। अतः बटवारेके समय अधिक द्रव्य मिलता है। यही बात अट्ठाईसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक मनुष्यके बारेमें भी समझनी चाहिये। अतः उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक मनुष्यके ही उक्त चार प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है।

शेष १०९ प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक

---

१ कर्मकाण्डमें गा० २१५ से २१७ तक जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियों को बतलाया है। शेष १०९ प्रकृतियोंके बन्धक सूक्ष्मनिगोदिया जीवके बारे में उसमें कुछ विशेष बात बतलाई है। उसमें लिखा है–

"चरिमअपुण्णभवत्थो तिविग्गहे पढमविग्गहम्मि ठिओ।
सुहुमणिगोदो बंधदि सेसाणं अवरबंधं तु ॥ २१७ ॥"

अर्थात्–लब्ध्यपर्याप्तकके ६०१२ भवोंमेंसे अन्तके भवको धारण करनेके लिये तीन मोड़े लेते समय, पहले मोड़े में स्थित हुआ सूक्ष्म निगोदिया जीव शेष प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध नहीं बतलाया है। तिर्यञ्चगतिमें तीर्थङ्करका बन्ध ही नहीं होता, अतः वह भी उपेक्षणीय है। मनुष्यगतिमें जन्मके प्रथम समयमें जो तीर्थङ्करसहित नामकर्मके उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध होता है उसमें प्रकृति कम होनेसे वहाँ भाग अधिक मिलता है। तथा, तीर्थङ्करसहित इकतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध संयमीके ही होता है, और वहाँ योग अधिक होता है। अतः तीसप्रकृतिक स्थानके बन्धक देवोंके ही तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है। देवद्विक और वैक्रियिकद्विकका जघन्य प्रदेशबन्ध देवगति या नरकगतिसे आकर उत्पन्न होनेवाले मनुष्यके उस समय होता है, जब वह देवगतिके योग्य नामकर्मके उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानका बन्ध करता है। क्योंकि देव और नारक तो इन प्रकृतियोंका बन्ध ही नहीं करते। भोगभूमिया तिर्यञ्च जन्म लेनेके प्रथम समयमें इनका बन्ध करते हैं, किन्तु वे देवगतिके योग्य अट्ठाईसप्रकृतिक बन्धस्थानका ही बन्ध करते हैं। अतः बटवारेके समय अधिक द्रव्य मिलता है। यही बात अट्ठाईसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक मनुष्यके बारेमें भी समझनी चाहिये। अतः उनतीसप्रकृतिक बन्धस्थानके बन्धक मनुष्यके ही उक्त चार प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है।

शेष १०९ प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक

---

१ कर्मकाण्डमें गा० २१५ स २१७ तक जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाया है। शेष १०९ प्रकृतियोंके बन्धक सूक्ष्मनिगोदिया जीवके बारेमें उसमें कुछ विशेष बात बतलाई है। उसमें लिखा है–

"चरिमअपुण्णभवत्थो तिविग्गहे पढमविग्गहम्मि ठिओ।
सुहुमणिगोदो बंधदि सेसाणं अवरबंधं तु ॥ २१७ ॥"

अर्थात्–लब्ध्यपर्याप्तकके ६०१२ भवोंमेंसे अन्तके भवको धारण करनेके लिये तीन मोड़े लेते समय, पहले मोड़े में स्थित हुआ सूक्ष्म निगोदिया जीव शेष प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

एक गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करके जब जीव पुनः अनुत्कृष्ट बन्ध करता है तो वह सादि कहा जाता है। उत्कृष्ट बन्धसे पहलेका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अनादि है। अभव्यका बन्ध ध्रुव है और भव्यका बन्ध अध्रुव है।

भय और जुगुप्साका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी चौथेसे लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है। उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके भी पहलेकी ही तरह चार भङ्ग जानने चाहिये। इसी तरह अप्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रत्याख्यानावरण कषाय, संज्वलन कषाय, पाँच ज्ञानावरण और पाँच अन्तरायके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके भी चार चार भङ्ग जानने चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट प्रदेशबन्धसे पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, वह अनादि होता है। और उत्कृष्टबन्धके बाद जो अनुत्कृष्ट बन्ध होता है, वह सादि होता है। भव्य जीवका वही बन्ध अध्रुव होता है और अभव्यका बन्ध ध्रुव होता है। इस प्रकार तीस प्रकृतियोंके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके सादि वगैरह चारों भङ्ग होते हैं। किन्तु बाकीके उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्धके सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। जो इस प्रकार हैं—अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके भङ्ग बतलाते हुए यह बतला आये हैं कि अमुक अमुक प्रकृतिका अमुक अमुक गुणस्थानमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। वह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अपने अपने गुणस्थानमें पहली बार होता है, अतः सादि है। तथा, एक दो समय तक होकर या तो उसके बन्धका बिल्कुल अभाव ही हो जाता है, या पुनः अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होने लगता है, अतः अध्रुव है।

तथा उक्त तीस प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके भवके प्रथम समयमें होता है। उसके बाद योगशक्तिके बढ़ जानेके कारण उनका अजघन्य प्रदेशबन्ध होता है। संख्यात या असंख्यात कालके बाद जब उस जीवको पुनः उस भवकी प्राप्ति होती है तो पुनः जघन्य प्रदेशबन्ध होता है उसके बाद पुनः अजघन्य प्रदेशबन्ध होता

के ग्रहण करनेको उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कहते हैं। और उत्कृष्ट प्रदेशबन्धमें एक दो वगैरह स्कन्धोंकी हानिसे लेकर सबसे कम कर्मस्कन्धोंके ग्रहण करनेको अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कहते हैं । इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदोंमें प्रदेशबन्धके समस्त भेदोंका संग्रहण हो जाता है। तथा सबसे कम कर्मस्कन्धोंके ग्रहण करनेको जघन्य प्रदेशबन्ध कहते हैं । और उसमें एक दो वगैरह स्कन्धोंकी वृद्धिसे लेकर अधिकसे अधिक कर्मस्कन्धोंके ग्रहण करनेको अजघन्य प्रदेशबन्ध कहते हैं। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य भेदोंमें भी प्रदेशबन्धके सब भेद गर्भित हो जाते हैं।

उक्त गाथामें, दर्शनषट्क वगैरह प्रकृतियोंमें अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धके चारों भङ्ग बतलाये हैं, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरणका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें होता है, क्योंकि एक तो वहाँ मोहनीय और आयुकर्मका बन्ध नहीं होता, दूसरे निद्रापञ्चकका भी बन्ध नहीं होता। अतः उन्हें बहुत द्रव्य मिलता है। इस उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको करके कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें गया। वहाँसे गिरकर, दसवें गुणस्थानमें आकर जब वह जीव उक्त प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है, तो वह बन्ध सादि होता है। अथवा दसवें ही गुणस्थानमें उत्कृष्ट योगके द्वारा उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेके बाद जब वह जीव पुनः अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है, तब वह बन्ध सादि होता है। क्योंकि उत्कृष्टयोग एक, दो समयसे अधिक देर तक नहीं होता। उत्कृष्टबन्ध होनेसे पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, वह अनादि है। अभव्य जीवका वही बन्ध ध्रुव है और भव्य जीवका बन्ध अध्रुव होता है।

निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवके स्त्यानर्द्धित्रिकका बन्ध नहीं होता, अतः उनका भाग भी इन्हें मिलता है। उक्त गुणस्थानोंमेंसे किसी

सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। जो इस प्रकार है—

अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध को बतलाते हुए सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतला आये हैं। यह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध पहले पहले होता है अतः सादि है। पुनः अनुत्कृष्टबन्धके होने पर नहीं होता है, अतः अध्रुव है। तथा उक्त छह कर्मोका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म-निगोदिया अपर्याप्तक जीव भवके प्रथम समयमें करता है। उसके बाद योगकी वृद्धि हो जाने पर अजघन्य प्रदेशबन्ध करता है, कालान्तरमें पुनः जघन्यबन्ध करता है। इस तरह ये दोनों भी सादि और अध्रुव होते हैं।

मोहनीय और आयुकर्मके चारों बन्धोंके सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। उनमेंसे आयुकर्मके तो अध्रुवबन्धी होने के कारण उसके चारों प्रदेशबन्ध सादि और अध्रुव ही होते हैं। मोहनीयकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नौवे गुणस्थान तकके उत्कृष्टयोगवाले जीव करते हैं। अतः उत्कृष्ट-के बाद अनुत्कृष्ट और अनुत्कृष्टके बाद उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, इसलिये दोनों बन्ध सादि और अध्रुव हैं। इसी तरह मोहनीयका जघन्यबन्ध सूक्ष्म-निगोदिया जीव करता है। उसके भी जघन्यके बाद अजघन्य और अजघन्य-के बाद जघन्य बन्ध करनेके कारण दोनों बन्ध सादि और अध्रुव होते हैं। इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट आदि प्रदेशबन्धोंमें सादि वगैरह का क्रम जानना चाहिये।[1]

पूर्वोक्त प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धमेंसे अनेक प्रकारके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके कारण योगस्थान हैं, अनेक प्रकारके स्थितिबन्धके कारण स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं, और अनेक

---

१ कर्मकाण्डमें गाथा २०७-२०८ में मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट आदि बन्धोंमें सादि वगैरह भङ्गोंको बतलाया है, जो कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है।

सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। जो इस प्रकार है—

अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध को बतलाते हुए सूक्ष्मसाम्पराय गुण
उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतला आये हैं। यह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध पहले
होता है अतः सादि है। पुनः अनुत्कृष्टबन्धके होने पर नहीं
है, अतः अध्रुव है। तथा उक्त छह कर्मोंका जघन्य प्रदेशबन्ध
निगोदिया अपर्याप्तक जीव भवके प्रथम समयमें करता है।
बाद योगकी वृद्धि हो जाने पर अजघन्य प्रदेशबन्ध करता है, काल
पुनः जघन्यबन्ध करता है। इस तरह ये दोनों भी सादि और
होते हैं।

मोहनीय और आयुकर्मके चारों बन्धोंके सादि और अध्रुव
विकल्प होते हैं। उनमेंसे आयुकर्मके तो अध्रुवबन्धी होने के कारण
चारों प्रदेशबन्ध सादि और अध्रुव ही होते हैं। मोहनीयकर्मका
प्रदेशबन्ध नौवे गुणस्थान तकके उत्कृष्टयोगवाले जीव करते हैं। अतः
के बाद अनुत्कृष्ट और अनुत्कृष्टके बाद उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है,
दोनों बन्ध सादि और अध्रुव हैं। इसी तरह मोहनीयका जघन्यबन्ध
निगोदिया जीव करता है। उसके भी जघन्यके बाद अजघन्य और अ
के बाद जघन्य बन्ध करनेके कारण दोनों बन्ध सादि और अध्रुव हैं
इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट आदि प्रदेशबन्धों
वगैरह का क्रम जानना चाहिये।

पूर्वोक्त प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेश
अनेक प्रकारके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके कारण योगस्थान हैं,
प्रकारके स्थितिबन्धके कारण स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं, और

---

१ कर्मकाण्डमें गाथा २०७-२०८ में मूल और उत्तर प्र
उत्कृष्ट आदि बन्धोंमें सादि वगैरह भङ्गोंको बतलाया है, जो कर्मग्र
अनुरूप है।

सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। जो इस प्रकार है—

अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध को बतलाते हुए सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतला आये हैं। वह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध पहले पहले होता है अतः सादि है। पुनः अनुत्कृष्टबन्धके होने पर नहीं होता है, अतः अध्रुव है। तथा उक्त छह कर्मोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म-निगोदिया अपर्याप्तक जीव भवके प्रथम समयमें करता है। उसके बाद योगकी वृद्धि हो जाने पर अजघन्य प्रदेशबन्ध करता है, कालान्तरमें पुनः जघन्यबन्ध करता है। इस तरह ये दोनों भी सादि और अध्रुव होते हैं।

मोहनीय और आयुकर्मके चारों बन्धोंके सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। उनमेंसे आयुकर्मके तो अध्रुवबन्धी होने के कारण उसके चारों प्रदेशबन्ध सादि और अध्रुव ही होते हैं। मोहनीयकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नौवे गुणस्थान तकके उत्कृष्टयोगवाले जीव करते हैं। अतः उत्कृष्ट-के बाद अनुत्कृष्ट और अनुत्कृष्टके बाद उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, इसलिये दोनों बन्ध सादि और अध्रुव हैं। इसी तरह मोहनीयका जघन्यबन्ध सूक्ष्म-निगोदिया जीव करता है। उसके भी जघन्यके बाद अजघन्य और अजघन्य-के बाद जघन्य बन्ध करनेके कारण दोनों बन्ध सादि और अध्रुव होते हैं। इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट आदि प्रदेशबन्धोंमें सादि वगैरह का क्रम जानना चाहिये।

पूर्वोक्त प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धमेंसे अनेक प्रकारके प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धके कारण योगस्थान हैं, अनेक प्रकारके स्थितिबन्धके कारण स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं, और अनेक

१ पंचसंग्रहमें गाथा २०७-२०८ में मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट आदि बन्धोंमें सादि वगैरह भङ्गोंको बतलाया है, जो कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है।

है कि इन सातोंमें किसकी संख्या अधिक है और किसकी संख्या कम है?

योगस्थानोंकी संख्या श्रेणिके असंख्यातवें भाग बतलाई है। श्रेणि-का स्वरूप आगे बतलायेंगे। उसके असंख्यातवें भागमें आकाशके जितने प्रदेश होते हैं, उतने ही योगस्थान जानना चाहिये। पीछे गा० ५३ का व्याख्यान करते हुए बतला आये हैं कि योग, वीर्य या शक्तिविशेषको कहते हैं। उसके स्थान किस प्रकार होते हैं यहां इसे समझाते हैं। पहले बतला आये हैं कि सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके भवके प्रथम समयमें सबसे जघन्य योग होता है, अर्थात् अन्य जीवोंकी अपेक्षासे उसकी शक्ति या वीर्यलब्धि सबसे कम है। किन्तु सबसे कम वीर्यलब्धिके धारक उस जीवके कुछ प्रदेश बहुत कम वीर्यवाले हैं, कुछ उनसे अधिक वीर्यवाले हैं और कुछ उनसे भी अधिक वीर्यवाले हैं। यदि सबसे कम वीर्यवाले प्रदेशोंमेंसे एक प्रदेशको केवलज्ञानीके ज्ञानके द्वारा देखा जावे तो उस एक प्रदेशमें असंख्यात लोकाकाशोंके प्रदेशोंके बराबर भाग पाये जाते हैं। तथा उसी जीवके अत्यधिक वीर्यवाले प्रदेशको उसी प्रकार यदि अवलोकन किया जावे तो उसमें उस जघन्यवीर्यवाले प्रदेशके भागोंसे भी असंख्यातगुणे भाग पाये जाते हैं। इसीके सम्बन्धमें पञ्चसङ्ग्रहमें लिखा है—

"पण्णाए अविभागं जहण्णवीरियस्स वीरियं छिण्णं।
एक्केक्कस्स पएसस्सऽसंखलोगप्पएससमं ॥ ३९७ ॥"

अर्थात्—'सबसे जघन्यवीर्यवाले जीवके प्रदेशमें जो वीर्य है, बुद्धिके द्वारा उसका तबतक छेदन किया जावे जबतक अविभागी अंश न हो। एक एक प्रदेशमें वे अविभागी अंश असंख्यात लोकाकाशोंके प्रदेशोंके बराबर होते हैं।' वीर्यलब्धिके इन भागों या अविभागी अंशोंको वीर्याणु, भावपरमाणु या अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। जीवके ... में ये अविभागी प्रतिच्छेद सबसे कम, किन्तु समान संख्या...

यह योगस्थान सबसे जघन्यशक्तिवाले सूक्ष्म निगोदिया जीवके भवके प्रथम समयमें होता है। उससे कुछ अधिक शक्तिवाले जीवका इसी क्रमसे दूसरा योगस्थान होता है। उससे भी कुछ अधिक शक्तिवाले जीवका इसी क्रमसे तीसरा योगस्थान होता है। उससे भी कुछ अधिक शक्तिवाले जीवका इसी क्रमसे चौथा योगस्थान होता है। इस प्रकार इसी क्रमसे नाना जीवोंके अथवा कालभेदसे एक ही जीवके ये योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग आकाशके जितने प्रदेश होते हैं, उतने होते हैं।

शङ्का—जीव अनन्त हैं, अतः योगस्थान भी अनन्त ही होने चाहिये।

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि सब जीवों का योगस्थान जुदा जुदा ही नहीं होता, अनन्त स्थावर जीवोंके समान योगस्थान होता है, तथा असंख्यात त्रसोंके भी समान योगस्थान होता है। अतः विसदृश योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग ही होते हैं।

सुनिये-

"पल्लासंखेज्जदिमा गुणहाणिसला हवंति इगिठाणे।
गुणहाणिफड्डयाओ असंखभागं तु सेढीये ॥ २२४ ॥
फड्डयगे एक्केक्के वग्गणसंखा हु तत्तियालावा।
एक्केक्कवग्गणाए असंखपदरा हु वग्गाओ ॥ २२५ ॥
एक्केक्के पुण वग्गे असंखलोगा हवंति अविभागा।
अविभागस्स पमाणं जहण्णउड्ढी पदेसाणं ॥ २२६ ॥"

अर्थात्-'एक योगस्थानमें पल्यके असंख्यातवें भाग गुणहानियाँ होती हैं। एक गुणहानिमें श्रेणिके असंख्यातवें भाग स्पर्द्धक होते हैं। एक एक स्पर्द्धकमें उतनी ही वर्गणाएँ होती हैं। एक एक वर्गणामें असंख्यात जगत्प्रतर प्रमाण वर्ग होते हैं। और एक एक वर्ग में असंख्यात लोकाकाशोंके प्रदेशोंके बराबर अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं। प्रदेशोंमें जो जघन्य वृद्धि

प्रदेशबन्धका विस्तारसे वर्णन करनेपर भी अभीतक उसका कारण नहीं बतलाया, अतः प्रदेशबन्ध और प्रसङ्गवश पूर्वोक्त प्रकृति स्थिति और अनुभागबन्धके कारण बतलाते हैं—

जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायाउ ॥९६॥

अर्थ—प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं, और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं।

भावार्थ—गाथाके इस उत्तरार्द्धमें चारों बन्धोंके कारण बतलाये हैं। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण योगको बतलाया है और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्धका कारण कषायको बतलाया है। योग और कषायका स्वरूप पहले बतला आये हैं। योग एक शक्तिका नाम है जो निमित्त-कारणोंके मिलनेपर कर्मवर्गणाओंको कर्मरूप परिणमाती है। कर्मपुद्गलोंका अमुक परिमाणमें कर्मरूप होना, तथा उनमें ज्ञान वगैरहको घातने आदिका स्वभाव पड़ना ये योगके कार्य हैं। तथा आये हुए कर्मपुद्गलोंका अमुक कालतक आत्माके साथ दूधपानीकी तरह मिलकर ठहरना और उनमें तीव्र या मन्द फल देनेकी शक्तिका पड़ना, ये कषायके कार्य हैं। अतः दो बन्धोंका कारण योग है और दो का कारण कषाय है। जबतक कषाय रहती है, तबतक चारों बन्ध होते हैं। किन्तु कषायका उपशम या क्षय हो जानेपर ग्यारहवें वगैरह गुणस्थानोंमें केवल प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ही होते हैं। इसीसे कर्मकाण्डमें कहा है—

'जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥ २५७ ॥'

अर्थात् 'प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं, तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। जिनकी कषाय अपरिणत है अर्थात् उदयरूप नहीं है तथा जिनकी कषाय नष्ट हो गई है, उनके स्थितिबन्धका [illegible] नहीं लिया है। देखो गा० २५८-२६०।

इसके नीचेका भाग पूर्व-पश्चिम सात राजु चौड़ा है। फिर दोनों ओरसे घटते घटते सात राजुकी ऊँचाई पर एक राजु चौड़ा है। पुनः बढ़ते बढ़ते १०॥ राजु की ऊँचाई पर पाँच राजु चौड़ा है। फिर घटते घटते चौदह राजु की ऊँचाई पर एक राजु चौड़ा है। इस प्रकार पूर्व-पश्चिम में घटता बढ़ता हुआ है। सर्वत्र ७ राजु मोटाई है। इस की चौड़ाई मोटाई और ऊँचाईका यदि बुद्धिके द्वारा घनीकरण किया जावे तो वह सात राजु के घन के बराबर होता है।

इसके घनीकरणका प्रकार इस तरह है—अधोलोकके नीचेका विस्तार सात राजु है और दोनों ओरसे घटते घटते सात राजुकी ऊँचाईपर मध्य-लोकके पास वह एक राजु शेष रहता है। इस अधोलोकके बीचमें से दो भाग करके यदि दोनों भागोंको उलटकर बराबर बराबर रखा जावे तो उसका विस्तार नीचेकी ओर भी और ऊपरकी ओर भी चार चार राजु होता है, किन्तु ऊँचाई सर्वत्र सातराजु ही रहती है। जैसे—

इसके नीचेका भाग पूर्व-पश्चिम सात राजु चौड़ा है। फिर दोनों ओरसे घटते घटते सात राजुकी ऊँचाई पर एक राजु चौड़ा है। पुनः बढ़ते बढ़ते १०॥ राजु की ऊँचाई पर पाँच राजु चौड़ा है। फिर घटते घटते चौदह राजु की ऊँचाई पर एक राजु चौड़ा है। इस प्रकार पूर्व-पश्चिम में घटता बढ़ता हुआ है। सर्वत्र ७ राजु मोटाई है। इस की चौड़ाई मोटाई और ऊँचाईका यदि बुद्धिके द्वारा समीकरण किया जावे तो वह सात राजु के घन के बराबर होता है।

इसके समीकरणका प्रकार इस तरह है—अधोलोकके नीचेका विस्तार सात राजु है, और दोनों ओरसे घटते घटते सात राजुकी ऊँचाईपर मध्य-लोकके पासमें वह एक राजु शेष रहता है। इस अधोलोकके बीचमें से दो भाग करके यदि दोनों भागोंको उलटकर बराबर बराबर रक्खा जाये तो उसका विस्तार नीचेकी ओर भी और ऊपरकी ओर भी चार चार राजु होता है, किन्तु ऊँचाई सर्वत्र सातराजु ही रहती है। जैसे—

कारण नहीं है' । चौदहवें गुणस्थानमें योगका भी अभाव होजाता है, अतः वहाँ एक भी बन्ध नहीं होता है ।।

योगस्थानोंका प्रमाण श्रेणिके असंख्यातवें भाग बतलाया है । अतः श्रेणिका स्वरूप बतलाना आवश्यक है । किन्तु लोक और उसके घनफल का कथन किये बिना श्रेणिका स्वरूप नहीं बतलाया जासकता, अतः श्रेणिके साथ ही साथ घन और प्रतरका स्वरूप भी कहते हैं—

चउदसरज्जू लोउ बुद्धिकउ होइ सत्तरज्जुघणो ।
तद्दीहेगपएसा सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥

अर्थ—लोक चौदह राजु ऊँचा है, और बुद्धिके द्वारा उसका समीकरण करनेपर वह सातराजुके घनप्रमाण होता है । सातराजु लम्बी आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणि कहते हैं, और उसके वर्गको प्रतर कहते हैं ।

भावार्थ—इस गाथामें प्रसङ्गवश लोक, श्रेणि और प्रतरका स्वरूप बतलाया है । गाथामें **'चउदसरज्जू लोउ'** लिखा है, जिसका आशय है कि लोक चौदह राजु है । किन्तु यह केवल उसकी उँचाईका ही प्रमाण है । लोकका आकार कटिपर दोनों हाथ रखकर और पैरोंको फैलाकर खड़े हुए मनुष्यके समान बतलाया है । जो इस प्रकार है—

---

१ त्रिलोकसार में लिखा है—

'उब्भियदलेक्कमुरवद्धयसंचयसण्णिहो हवे लोगो ।
अद्धुदओ मुरवसमो चोद्दसरज्जूदओ सव्वो ॥ ६ ॥'

अर्थात् खड़ा करके आधे मृदङ्ग के ऊपर रखे हुए पूरे मृदङ्ग के समान लोक का आकार जानना चाहिये । उसका मध्य भाग ध्वजाओं के समूह के सदृश अनेक प्रकार के द्रव्योंसे भरा हुआ है । अधोलोक आधे मृदङ्ग के आकार है और उर्ध्वलोक पूरे मृदङ्ग के आकार है । तथा सबलोक चौदह राजु ऊंचा है ।

के नीचेका भाग
है। फिर दोनों
ऊँचाई पर एक
बढ़ते १०।। राजु
है। फिर घटते
पर एक राजु
श्चिम में घटता
मोटाई है। इस
ऊँचाईका यदि
जाये तो वह सात
है।
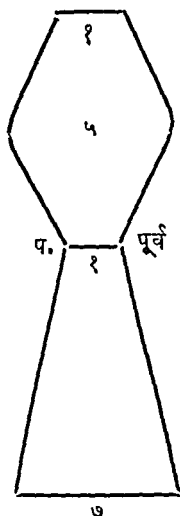
पूर्व-पश्चिम सात राजु
ओरसे घटते घटते सात
राजु चौड़ा है। पुनः
की ऊँचाई पर पाँच राजु
घटते चौदह राजु की
चौड़ा है। इस प्रकार
बढ़ता हुआ है। सर्वत्र
की चौड़ाई मोटाई
बुद्धिके द्वारा समीकरण
राजु के घन के बराबर

इसके समीकरणका प्रकार इस तरह है—अधोलोकके नीचेका विस्तार
राजु है, और दोनों ओरसे घटते घटते सात राजुकी ऊँचाईपर मध्य-
के पासमें वह एक राजु शेष रहता है। इस अधोलोकके बीचमें से दो
करके यदि दोनों भागोंको उलटकर बराबर बराबर रक्खा जाये तो
का विस्तार नीचेकी ओर भी और ऊपरकी ओर भी चार चार राजु
है, किन्तु ऊँचाई सर्वत्र सातराजु ही रहती है। जैसे—

इसके नीचेका भाग पूर्व-पश्चिम सात राजु चौड़ा है। फिर दोनों ओरसे घटते घटते सात राजुकी ऊँचाई पर एक राजु चौड़ा है। पुनः बढ़ते बढ़ते १०॥ राजु की ऊँचाई पर पाँच राजु चौड़ा है। फिर घटते घटते चौदह राजु की ऊँचाई पर एक राजु चौड़ा है। इस प्रकार पूर्व-पश्चिम में घटता बढ़ता हुआ है। सर्वत्र ७ राजु मोटाई है। इस की चौड़ाई मोटाई और ऊँचाईका यदि बुद्धिके द्वारा घनीकरण किया जावे तो वह सात राजु के घन के बराबर होता है।

इसके घनीकरणका प्रकार इस तरह है—अधोलोकके नीचेका विस्तार सात राजु है, और दोनों ओरसे घटते घटते सात राजुकी ऊँचाईपर मध्य-लोकके पासमें वह एक राजु शेष रहता है। इस अधोलोकके बीचमें से दो भाग करके यदि दोनों भागोंको उलटकर बराबर बराबर रक्खा जावे तो उसका विस्तार नीचेकी ओर भी और ऊपरकी ओर भी चार चार राजु होता है, किन्तु ऊँचाई सर्वत्र सातराजु ही रहती है। जैसे—

श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं—एक उपशमश्रेणि और दूसरी क्षपकश्रेणि। उपशमश्रेणिमें मोहनीय कर्मकी उत्तरप्रकृतियोंका उपशम किया जाता है, इसीसे उसे उपशमश्रेणि कहते हैं। ग्रन्थकारने इस गाथामें मोहनीयकी प्रकृतियोंके उपशम करनेका क्रम बतलाया है। सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम होता है, जिसका वर्णन निम्न प्रकारसे है—

चौथे, पाँचवे, छठे और सातवे गुणस्थानमेंसे किसी एक गुणस्थानवर्ती जीव अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम करनेके लिये यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके तीन करण करता है। यथाप्रवृत्तकरणमें प्रति समय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होती है और उसकी वजहसे शुभ प्रकृतियोंमें अनुभागकी वृद्धि तथा अशुभ प्रकृतियोंमें अनुभागकी हानि होती है। किन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि अथवा गुणसंक्रम नहीं होता है, क्योंकि यहाँ उनके योग्य विशुद्ध परिणाम नहीं होते हैं। यथाप्रवृत्तकरणका अन्तर्मुहूर्त काल समाप्त करके दूसरा अपूर्वकरण होता है। इसमें स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और अपूर्व स्थितिबन्ध, ये पाँच कार्य होते हैं। अपूर्वकरणके प्रथम समयमें कर्मोंकी जो स्थिति होती है, स्थितिघातके द्वारा उसके अन्तिम समयमें वह संख्यातगुणी कर दी जाती है। रसघातके द्वारा अशुभ प्रकृतियोंका रस क्रमशः क्षीण कर दिया जाता है। गुणश्रेणिरचनामें प्रकृतियोंकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिको छोड़कर, ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंमेंसे प्रति समय कुछ दलिक ले लेकर उदयावलीके ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंमें उनका निक्षेप कर दिया जाता है। अर्थात् पहले समयमें जो दलिक लिये जाते हैं, उनमेंसे सबसे कम दलिक प्रथम समयमें स्थापित किये जाते हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक दूसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं, उससे भी असंख्यात गुणे दलिक तीसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त कालके

१ गा० ८२-८३ में गुणश्रेणी का स्वरूप बतलाया है।

अन्तिम समय पर्यन्त असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप किया जाता है। दूसरे आदि समयोंमें भी जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका निक्षेप भी इसी प्रकार किया जाता है। यहाँ इतना विशेष है कि गुणश्रेणिकी रचनाके लिये पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, वे थोड़े होते हैं। और उसके पश्चात् प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण किया जाता है। तथा दलिकोंका निक्षेप, अवशिष्ट समयोंमें ही किया जाता है, अन्तर्मुहूर्त कालसे ऊपरके समयोंमें नहीं किया जाता।

गुणसंक्रमके द्वारा अपूर्वकरणके प्रथम समयमें अनन्तानुबन्धी आदि अशुभ प्रकृतियोंके थोड़े दलिकोंका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण होता है। उसके पश्चात् प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे दलिकोंका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण होता है। तथा अपूर्वकरणके प्रथम समयसे ही स्थिति-बन्ध भी अपूर्व अर्थात् बहुत थोड़ा होता है। अपूर्वकरणका काल समाप्त होनेपर तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। इसमें भी प्रथम समयसे ही पूर्वोक्त पाँच कार्य एक साथ होने लगते हैं। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है। उसमेंसे संख्यात भाग बीत जानेपर जब एक भाग बाकी रहता है तो अनन्तानुबन्धी कषायके एक आवली प्रमाण नीचेके निषेकोंको छोड़कर बाकी निषेकोंका उसी तरह अन्तरकरण किया जाता है जैसे कि पहले[1] मिथ्यात्वका बतलाया है। जिन अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकोंका अन्तरकरण किया जाता है, उन्हें वहाँसे उठा उठाकर बंधनेवाली अन्य प्रकृतियोंमें स्थापित कर दिया जाता है। अन्तरकरणके प्रारम्भ होनेपर, दूसरे समयमें अनन्तानुबन्धी कषायके ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंका उपशम किया जाता है। पहले समयमें थोड़े दलिकोंका उपशम किया जाता है, दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम किया जाता है, तीसरे समयमें

१ गा० १० में।

उससे भी असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम किया जाता है। अन्तर्मुहूर्त काल तक इसी तरह असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका प्रति समय उपशम किया जाता है। इतने समयमें सम्पूर्ण अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम हो जाता है। जैसे धूलिको पानी डाल डालकर कूट देनेसे वह दब जाती है और फिर हवा वगैरहसे उड़ नहीं सकती, उसी तरह कर्मरज भी विशुद्धिरूपी जलके द्वारा सींच सींच कर अनिवृत्तिकरणरूपी दुरमुठके द्वारा कूट दिये जानेपर उदय, उदीरण, निधत्ति वगैरह करणोंके अयोग्य हो जाती है। इसे ही अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम कहते हैं। अनन्तानुबन्धीकषायका उपशम करनेके बाद मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिका उपशम करता है। जिनमेंसे मिथ्यात्वका उपशम तो मिथ्यादृष्टि और वेदकसम्यग्दृष्टि करते हैं, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका उपशम वेदकसम्यग्दृष्टि ही करता है। मिथ्यादृष्टि जीव जब प्रथमोपशमसम्यक्त्वको उत्पन्न करता है, तब मिथ्यात्वका उपशम करता है। किन्तु उपशम श्रेणिमें प्रथमोपशमसम्यक्त्व उपयोगी नहीं होता, अपि तु द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उपयोगी होता है, जिसमें दर्शनत्रिकका सम्पूर्णतया उपशम होता है। अतः यहाँ पर दर्शनत्रिकका उपशम वेदक-

१ कुछ आचार्य अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम नहीं मानते। उनके मतसे उसका विसंयोजन होता है। जैसा कि कर्मप्रकृति (उपशमकरण) में लिखा है—

'चउगइया पज्जता तिन्निवि संयोयणा विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया नंतरकरणं उवसमो वा ॥ ३१ ॥'

अर्थात्—'चौथे, पांचवे तथा छठे गुणस्थानवर्ती यथायोग्य चारो गतिके पर्याप्त जीव तीन करणोंके द्वारा अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करते हैं। किन्तु यहां न तो अन्तरकरण होता है और न अनन्तानुबन्धीका उपशम ही होता है।'

म्यग्दृष्टि ही करता है, और उसके उपशमका भी वही पूर्वोक्त क्रम है। अर्थात् तीन करण वगैरह करता है।

इस प्रकार दर्शनत्रिकका उपशम करके, चरित्रमोहनीयका उपशम करनेके लिये पुनः यथाप्रवृत्त वगैरह तीन करणोंको करता है। करणोंका स्वरूप तो पूर्ववत् ही जानना चाहिये। यहाँ केवल इतना अन्तर है कि सातवें गुणस्थानमें यथाप्रवृत्त करण होता है, अपूर्वकरण अपूर्वकरण नामके आठवें गुणस्थानमें होता है, और अनिवृत्तिकरण अनिवृत्तिकरण नामके नौवें गुणस्थानमें होता है। यहाँ पर भी स्थितिघात वगैरह कार्य होते हैं, इतनी विशेषता है कि चौथेसे सातवें गुणस्थान तक जो अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण होते हैं, उनमें उसी प्रकृतिका गुणसंक्रम होता है, जिसके

दर्शनमोहकी उपशमनाके सम्बन्धमें कर्मप्रकृतिमें लिखा है—

"अहवा दंसणमोहं पुव्वं उवसामइत्तु सामन्ने।
पढमठिइमावलियं करेइ दोण्हं अणुदियाणं॥ ३३॥
अद्धापरिवित्ताऊ पमत्त इयरे सहस्ससो किच्चा।
करणाणि तिन्नि कुणए तइयविसेसे इमे सुणसु॥३४॥" उपशमना०

अर्थ—'यदि वेदक सम्यक्दृष्टि उपशमश्रेणि चढ़ता है तो पहले मुनि अवस्थामें नियमसे दर्शनमोहनीयत्रिकका उपशम करता है। इतना विशेष है कि अन्तरकरण करते हुए अनुदित मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी प्रथमस्थितिको आवलिका प्रमाण करता है। तथा सम्यक्त्वकी प्रथम स्थितिको अन्तर्मुहूर्तप्रमाण करता है। उपशमन करके प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थानमें हजारों बार आवागमन करके चारित्रमोहनीयकी उपशमनाके लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है। तीसरे अनिवृत्तिकरणमें कुछ विशेषता है, उसे सुनो।' इस विशेषताको जाननेके लिये इससे आगेकी गाथाएँ देखनी चाहियें।

सम्बन्धमें ये परिणाम होते हैं। किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थानमें सम्पूर्ण अशुभ प्रकृतियोंका गुणसंक्रम होता है। अपूर्वकरणके कालमेंसे संख्यातवाँ भाग बीत जानेपर निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति होती है। उसके बाद और भी काल बीतनेपर सुरद्विक, पञ्चेन्द्रियजाति वगैरह तीस प्रकृतियोंका बन्धविच्छेद होता है। तथा अन्तिम समयमें हास्य, रति, भय और जुगुप्साका बन्धविच्छेद होता है। उसके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है। उसमें भी पूर्ववत् स्थितिघात वगैरह कार्य होते हैं। अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे संख्यात भाग बीत जानेपर चारित्र मोहनीयकी इक्कीस प्रकृतियोंका अन्तरकरण करता है। जिन कर्मोंका उस समय बन्ध और उदय होता है, उसके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकोंको प्रथमस्थिति और द्वितीय स्थितिमें क्षेपण करता है। जैसे पुरुषवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेवाला पुरुषवेदका। जिन कर्मोंका उस समय केवल उदय ही होता है, बन्ध नहीं होता, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंको प्रथम स्थितिमें ही क्षेपण करता है, द्वितीय स्थितिमें नहीं। जैसे स्त्रीवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेवाला स्त्रीवेदका। जिन कर्मोंका उदय नहीं होता, उस समय केवल बंध ही होता है, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंका द्वितीयस्थितिमें ही क्षेपण करता है, प्रथम स्थितिमें नहीं। जैसे संज्वलन क्रोधके उदयसे श्रेणि चढ़नेवाला शेष संज्वलन कषायोंका। किन्तु जिन कर्मोंका न तो बन्ध ही होता है और न उदय ही होता है, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलिकोंका अन्य प्रकृतियोंमें क्षेपण करता है। जैसे द्वितीय और तृतीय कषायका। (११) (अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्तमें नपुंसकवेदका[1] उपशम करता है।

---

१ आवश्य० नि० गा० ११६ की टीका के, तथा विशेषा० भा० गा० १२८८ के अनुसार यह क्रम पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाले जीवकी अपेक्षासे बतलाया गया है। यदि स्त्रीवेदके उदयसे कोई जीव चढ़ता है तो वह पहले नपुंसकवेदका उपशम करता है। फिर क्रम

से पुरुषवेद, हास्यादिषट्क और स्त्रीवेदका उपशम करता है। तथा यदि नपुंसकवेदके उदय से कोई जीव श्रेणि चढ़ता है तो वह पहले स्त्रीवेदका उपशम करता है उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद हास्यादिषट्क और नपुंसकवेद का उपशम करता है। सारांश यह है कि जिस वेद के उदय से श्रेणि पर चढ़ता है, उस वेद का उपशम सबसे पीछे करता है। जैसा कि विशेषा० भा० में लिखा है—

"तत्तो य दंसणतिगं तओऽणुइण्णं जहन्नयरवेयं।
तत्तो बीयं छक्कं तओ य वेयं सयमुदिन्नं ॥१२८८॥"

अर्थात्—अनन्तानुबन्धी की उपशमना के पश्चात् दर्शनत्रिक का उपशम करता है। उसके पश्चात् अनुदीर्ण दो वेदों में से जो वेद हीन होता है, उसका उपशम करता है। उसके पश्चात् दूसरे वेदका उपशम करता है। उसके पश्चात् हास्यादिषट्कका उपशम करता है। उसके पश्चात् जिस वेदका उदय होता है उसका उपशम करता है।

कर्मप्रकृतिमें इस क्रमको इस प्रकार बतलाया है—

'उदयं वज्जिय इत्थी इत्थिं समयइ अवेयगा सत्त।
तह वरिसवरो वरिसवरित्थिं समगं कमारद्धे ॥ ६५ ॥' उपशमना०

अर्थात्—यदि स्त्री उपशमश्रेणि पर चढ़ती है तो पहले नपुंसकवेदका उपशम करती है उसके बाद चरमसमयमात्र उदयस्थितिको छोड़कर स्त्री वेदके शेष सभी दलिकोंका उपशम करती है। उसके बाद अवेदक होने पर पुरुषवेद आदि सात प्रकृतियोंका उपशम करती है। तथा यदि नपुंसक उपशमश्रेणि पर चढ़ता है तो एक उदयस्थितिको छोड़कर शेष नपुंसक वेदका तथा स्त्रीवेदका एक साथ उपशम करता है। उसके बाद अवेदक होने पर पुरुष वेद आदि सात प्रकृतियोंका उपशम करता है।

लब्धिसारमें भी कर्मप्रकृतिके अनुसार ही विधान है। देखो-गा० ३६१-३६२।

उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें स्त्रीवेदका उपशम करता है। उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें हास्यादिषट्कका उपशम करता है। हास्यादिषट्कका उपशम होते ही पुरुषवेदके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है। हास्यादिषट्ककी उपशमनाके अनन्तर समय कम दो आवलिका मात्रमें सकल पुरुषवेदका उपशम करता है। जिस समयमें हास्यादिषट्क उपशान्त हो जाते हैं और पुरुषवेदकी प्रथमस्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समयमें अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। जब संज्वलन क्रोधकी प्रथम स्थितिमें एक आवलिका काल शेष रह जाता है तो संज्वलन क्रोधके बन्ध उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उपशम हो जाता है। उस समय संज्वलन क्रोधकी प्रथमस्थितिगत एक आवलिकाको और ऊपरकी स्थितिगत एक समय कम दो आवलिकामें बद्ध दलिकोंको छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। उसके बाद समय कम दो आवलिका कालमें संज्वलन क्रोधका उपशम हो जाता है। जिस समयमें संज्वलन क्रोधके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है उसके अनन्तर समयसे लेकर संज्वलन मानकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको ले लेकर प्रथम स्थिति करता है। प्रथम स्थिति करनेके प्रथमसे लेकर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन मानका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। संज्वलन मानकी प्रथम स्थितिमें समय कम तीन आवलिका शेष रहनेपर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मानके दलिकोंका संज्वलन मानमें प्रक्षेप नहीं किया जाता किन्तु संज्वलन माया वगैरहमें किया जाता है। एक आवलिका शेष रहनेपर संज्वलन मानके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण मानका उपशम हो जाता है। उस समयमें संज्वलन मानकी प्रथम स्थितिगत एक

आवलिका और एक समय कम दो आवलिकामें बांधे गये ऊपरकी स्थिति-गत कर्मदलिकोंको छोड़कर शेष दलिकोंका उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिकामें संज्वलन मानका उपशम करता है। जिस समयमें संज्वलन मानके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समयसे लेकर संज्वलन मायाकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर पूर्वोक्तप्रकारसे प्रथम स्थिति करता है और उसी समयसे लेकर तीनों मायाका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। संज्वलन मायाकी प्रथम स्थितिमें समय कम तीन अवलिका शेष रहनेपर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मायाके दलिकोंका संज्वलन मायामें प्रक्षेप नहीं करता, किन्तु संज्वलन लोभमें प्रक्षेप करता है। एक आवलिका शेष रहने-पर संज्वलन मायाके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण मायाका उपशम हो जाता है। उस समयमें संज्वलन मायाकी प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और समय कम दो आवलिकामें बाँधे गये ऊपरकी स्थितिगत दलि-कोंको छोड़कर शेषका उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिकामें संज्वलन मायाका उपशम करता है। जब संज्वलन मायाके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समयसे लेकर संज्वलन लोभकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर पूर्वोक्त प्रकारसे प्रथम स्थिति करता है। लोभका जितना वेदन काल होता है, उसके तीन भाग करके उनमेंसे दो भाग प्रमाण प्रथम स्थितिका काल रहता है। प्रथम त्रिभागमें पूर्व स्पर्द्धकोंसे दलिकोंको लेकर अपूर्व स्पर्द्धक करता है। अर्थात् पहलेके स्पर्द्धकोंमेंसे दलिकोंको ले लेकर उन्हें अत्यन्त रस-हीन कर देता है। द्वितीय त्रिभागमें पूर्व स्पर्द्धकों और अपूर्व स्पर्द्धकोंसे दलिकोंको लेकर अनन्त कृष्टि करता है, अर्थात् उनमें अनन्तगुना हीन-रस करके उन्हें अन्तरालसे स्थापित कर देता है। कृष्टिकरणके कालके

अन्त समयमें अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभका उपशम करता है। उसी समयमें संज्वलन लोभके बन्धका विच्छेद होता है और बादर संज्वलन लोभके उदय तथा उदीरणाका विच्छेद होता है। इसके साथ ही नौवें गुणस्थानका अन्त हो जाता है। उसके बाद दसवाँ सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान होता है। सूक्ष्मसाम्परायका काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें आनेपर ऊपरकी स्थितिसे कुछ कृष्टियोंको लेकर सूक्ष्मसाम्परायके कालके बराबर प्रथम स्थितिको करता है, और एक समय कम दो आव-लिकामें बंधे हुए शेष दलिकोंका उपशम करता है। सूक्ष्म साम्परायके अन्तिम समयमें संज्वलन लोभका उपशम हो जाता है। उसी समयमें ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, अन्तरायकी पाँच, यशःकीर्ति और उच्च गोत्र, इन प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होता है। अनन्तर समयमें ग्या-रहवां गुणस्थान उपशान्त कषाय हो जाता है। इस गुणस्थानमें मोहनीयकी २८ प्रकृतियोंका उपशम रहता है।[1]

शङ्का—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव ही उपशमश्रेणिका प्रारम्भ करता

---

१ लब्धिसार गा० २०५-२११ में उपशम का विधान विस्तार से किया है, जो प्रायः उक्त वर्णन से मिलता जुलता है। किन्तु उसमें अनन्तानुबन्धी के उपशम का विधान नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार विसंयोजन के ही पक्षपाती हैं। जैसा कि उसमें लिखा भी है—

'उवसमचरियाहिमुहो वेदगसम्मो अणं विजोजित्ता ॥ २०५ ॥'

अर्थात् 'उपशमचारित्रके अभिमुख वेदक सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करके' इत्यादि।

२ इस शङ्का-समाधानके लिये विशेषावश्यक भा० गा० [illegible] देखना चाहिये।

३ इस सम्बन्ध में मतान्तर भी है। यथा—

"अन्ये [illegible]।

है, और अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्वका उपशम करनेपर सातवाँ गुणस्थान होता है, क्योंकि उनका उदय होते हुए सम्यक्त्व वगैरहकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती। ऐसी दशामें उपशम श्रेणिमें पुनः उनका उपशम बतलानेकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—वेदक सम्यक्त्व, देशचारित्र और सकलचारित्रकी प्राप्ति उक्त प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे होती है और वेदकसम्यक्त्व पूर्वक ही उपशम-श्रेणिमें उपशम सम्यक्त्व होता है। अतः उपशम श्रेणिका प्रारम्भ करनेसे पहले उक्त प्रकृतियोंका क्षयोपशम रहता है, न कि उपशम।

शङ्का—उदयमें आये हुए कर्म दलिकोंका क्षय, और सत्तामें विद्यमान कर्मदलिकोंका उपशम होनेपर क्षयोपशम होता है। अतः उपशम और क्षयोपशममें अन्तर ही क्या है?

अन्नयरो पडिवज्जइ दंसणसमणम्मि उ नियट्टी ॥१२९१॥" विशे०भा०

अर्थात्—'अन्य आचार्योंका कहना है कि अविरत, देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत में से कोई एक उपशमश्रेणि चढता है।'

इस मत भेदका कारण सम्भवतः यह मालूम पड़ता है कि, जिन्होंने दर्शनमोहनीय के उपशम से, या यूं कहना चाहिये कि द्वितीय उपशम-सम्यक्त्व के प्रारम्भ से ही उपशमश्रेणि का प्रारम्भ माना है वे चौथे आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंको उपशमश्रेणिका प्रारम्भक मानते हैं, क्योंकि उपशमसम्यक्त्व चौथे आदि चार गुणस्थानों में ही प्राप्त किया जाता है। किन्तु जो चारित्रमोहनीय के उपशम से या यूं कहना चाहिये कि उपशम-चारित्रकी प्राप्तिके लिये किये गये प्रयत्नसे उपशमश्रेणिका प्रारम्भ मानते हैं, वे सप्तम गुणस्थानवर्ती जीवको ही उपशमश्रेणि का प्रारम्भक मानते हैं, क्योंकि सातवें गुणस्थानमें ही यथाप्रवृत्तकरण होता है। दिगम्बर सम्प्रदाय इस दूसरे मतको ही मानता है।

उत्तर—क्षयोपशममें घातक कर्मोंका प्रदेशोदय रहता है किन्तु उपशम उनका किसी भी तरहका उदय नहीं होता।

शङ्का—यदि क्षयोपशमके होनेपर भी अनन्तानुबन्धी कषाय वगैरहका प्रदेशोदय होता है, तो सम्यक्त्व वगैरहका घात क्यों नहीं होता?

उत्तर—उदय[1] दो तरहका होता है—एक फलोदय और दूसरा प्रदेशोदय। फलोदय होनेसे गुणका घात होता है, किन्तु प्रदेशोदय अत्यन्त मन्द होता है अतः उससे गुणका घात नहीं होता। अतः क्षयोपशम और उपशममें अन्तर होनेके कारण उपशम श्रेणिमें अनन्तानुबन्धी वगैरहका उपशम किया जाता है। सारांश यह है कि उपशम श्रेणिमें मोहनीयकर्मकी समस्त प्रकृतियोंका पूरी तरहसे उपशम किया जाता है। उपशम कर देनेपर उस कर्मका अस्तित्व तो बना ही रहता है, जैसे गदले पानीसे भरे हुए घड़ेमें फिटकरी वगैरह डाल देनेसे, पानीकी गाद उसके तलमें बैठ जाती है। पानी निर्मल हो जाता है, किन्तु उसके नीचे गन्दगी ज्योंकी त्यों मौजूद रहती है। उसी तरह उपशम श्रेणिमें जीवके भावोंको कलुषित करनेवाला प्रधान मोहनीय कर्म शान्त कर दिया जाता है। अपूर्वकरण वगैरह परिणाम ज्यों ज्यों ऊँचे उठते जाते हैं, त्यों त्यों मोहनीयरूपी धूलिके कणस्वरूप उसकी उत्तर प्रकृतियां एकके बाद एक शान्त होती चली जाती हैं। इसप्रकार उपशम की गईं प्रकृतियोंमें न तो स्थिति और अनुभागको कम किया जासकता है, और न उन्हें बढ़ाया जासकता है। न उनका उदय या उदीरणा हो

---

१ "तथा चोक्तमागमे-'एवं खलु गोयमा! मए दुविहे कम्मे पन्नत्ते, तं जहा-पएसकम्मे य अणुभावकम्मे य। तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ। तत्थ णं जं तं अणुभावकम्मं तं अत्थे गइयं वेएइ, अत्थे गतियं नो वेएइ'। भग०।" विशेषा० भा० कोट्या० टी० पृ० ३८२।

तरह सब किया कराया चौपट हो जाता है। किन्तु यदि छठे गुणस्थानमें आकर सम्हल जाता है तो पुनः उपशम श्रेणि चढ़ सकता है, क्योंकि एक

कोट्याचार्य ने इसकी टीका में लिखा है—" 'पज्जवसाणे' तस्याः प्रतिपतन् स वा भवेद् अप्रमतसंयतो वा स्यात्, प्रमत्तो वा, अविरत-सम्यग्दृष्टिर्वा, वा शब्दात् सम्यक्त्वमपि जह्यात्"।

अर्थात्—'श्रेणी से गिरकर अप्रमत्तसंगत, प्रमत्तसंयत, (देशविरत) या अविरतसम्यग्दृष्टि होता है। 'वा' शब्द से सम्यक्त्व को भी छोड़ देता है।

बृहद्वृत्तिमें लिखा है—'श्रेणेः समाप्तौ च निवृत्तोऽप्रमत्तगुणस्थाने प्रमत्तगुणस्थाने वाऽवतिष्ठते। कालगतस्तु देवेष्वविरतो वा भवति। कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण तु प्रतिपतितोऽसौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमपि यावद् गच्छति।'

अर्थात्—'श्रेणि की समाप्ति पर वहां से लौटते हुए जीव सातवें या छठे गुणस्थानमें ठहरता है। किन्तु यदि मर जाता है तो मरकर अविरतसम्यग्दृष्टि देव होता है। कर्मशास्त्रियोंके मतसे तो श्रेणिसे गिरकर जीव पहले गुणस्थान तक भी जाता है।' इससे पता चलता है कि सम्यक्त्व का वमन करने में सिद्धान्तशास्त्रियों और कर्मशास्त्रियों में मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदायके आचार्यों में भी इस विषय में मतभेद है। यह बात लब्धिसार की निम्न गाथाओं से स्पष्ट है। उपशमसम्यक्त्वका काल बतलाते हुए लिखा है—

"चउणोदरकालादो पुव्वादो पुव्वगोत्ति संखगुणं।
कालं अधापवत्तं पालदि सो उवसमं सम्मं ॥ ३४७ ॥
तस्सम्मत्तद्धाए असंजमं देससंजमं वापि।
गच्छेज्जावलिछक्के सेसे सासणगुणं वापि ॥ ३४८ ॥
जदि मरदि सासणो सो णिरयतिरक्खं णरं ण गच्छेदि।
णियमा देवं गच्छदि जइवसहमुणिंदवयणेण ॥ ३४९ ॥

भवमें दो बार उपशम श्रेणि चढ़नेका विधान पाया जाता है। किन्तु दो बार उपशम श्रेणि चढ़नेपर वह जीव उसी भवमें क्षपकश्रेणि नहीं चढ़ सकता। जो एक बार उपशम श्रेणि चढ़ता है वह दूसरी बार क्षपक श्रेणि

णरतिरियक्खणराउगसत्तो सक्को ण मोहमुवसमिदुं।
तम्हा तिसुवि गदीसु ण तस्स उप्पज्जणं होदि ॥ ३५० ॥"

अर्थात्—चढ़ते समय अपूर्वकरणके प्रथम समय से लेकर उतरते समय अपूर्वकरणके अन्तिम समय पर्यन्त, जितना काल लगता है, उससे संख्यात-गुणा काल द्वितीय उपशम सम्यक्त्वका होता है। इसमें अधःप्रवृत्तका काल भी समझ लेना चाहिये। वह काल सामान्यसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। इस कालमें प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होने पर जीव देशसंयम को प्राप्त करता है अथवा अप्रत्याख्यानावरणकषायका उदय होनेपर असंयम को प्राप्त होता है। तथा, छह आवली काल बाकी रह जानेपर अनन्तानुबन्धी कषायका उदय होने से सासादनगुणस्थानको भी प्राप्त होता है। यदि सासा-दनदशामें वह मरण करता है, तो नियमसे देव ही होता है ऐसा यतिवृषभाचार्य का मत है, क्योंकि नरकायु, तिर्यश्चायु और मनुष्यायु (परभव की अपेक्षासे) की सत्तावाला मनुष्य चारित्र मोहनीयका उपशम नहीं कर सकता।' इस प्रकार यतिवृषभाचार्य के मतसे सासादनगुणस्थानकी प्राप्ति बतलाकर ग्रन्थकार दूसरा मत बतलाते हुए लिखते हैं—

'उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासणं ण पाउणदि।
भूदबलिणाहणिम्मलसुत्तस्स फुडोवदेसेण ॥ ३५१ ॥"

अर्थात्—'भूतबलि स्वामी के निर्मल सूत्र (महाकर्म प्रकृति) के स्पष्ट, उपदेश के अनुसार जीव उपशमश्रेणि से उतरकर सासादनगुणस्थान को प्राप्त नहीं होता।'

१ 'एकभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा।' कर्मप्रकृति गा. ६४, पञ्चसं० गा० ९३ (उपशम०)

तिरि-नरय-थावरदुगं साहारा-यव-अड-नपु-त्थीए ॥ ९९ ॥
छग-पुं-संजलणा-दोनिद्द-विग्घ-वरणक्खए नाणी ।

अर्थ—अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व, मनुष्यायुके सिवाय बाकीकी तीन आयु, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रय (दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियजाति), स्त्यानर्द्धि आदि तीन, उद्योत, तिर्यञ्च-गति और तिर्यगानुपूर्वी, नरकगति और नरकानुपूर्वी, स्थावर और सूक्ष्म, साधारण, आतप, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय, पुरुषवेद, संज्वलनकषाय, दो निद्रा (निद्रा और प्रचला), पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण, इन ६३ प्रकृतियोंका क्षय करनेपर जीव केवलज्ञानी होता है ।

भावार्थ—पहले लिख आये हैं कि क्षपकश्रेणिमें मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंका मूलसे नाश किया जाता है । इसीसे उसे क्षपकश्रेणि कहते हैं । अर्थात् उपशमश्रेणिमें तो प्रकृतियोंके उदयको शान्त कर दिया जाता है, प्रकृतियोंकी सत्ता तो बनी रहती है किन्तु वे अन्तर्मुहूर्तके लिये अपना फल वगैरह नहीं दे सकतीं । किन्तु क्षपकश्रेणिमें उनकी सत्ता ही नष्ट कर दी जाती है । अतः उनके पुनः उदय होनेका भय नहीं रहता, और इसी कारणसे क्षपकश्रेणिमें पतन नहीं होता । उक्त गाथामें उन प्रकृतियोंके नाम बतलाये हैं, जिनका क्षपकश्रेणिमें क्षय किया जाता है । क्षयका क्रम निम्न प्रकार है—

“अण मिच्छ-मीस-सम्मं, अट्ठ नपुंसित्थिवेय-छक्कं च ।
पुमवेयं च खवेइ कोहाइए य संजलणे ॥ १२१ ॥
गइ अणुपुव्वि दो दो जाइनामं च जाव चउरिंदी ।
आयावं उज्जोयं, थावरनामं च सुहुमं च ॥ १२२ ॥
साहारमपज्जत्तं निद्दानिद्दं च पयलपयलं च ।
थीणं खवेइ ताहे अवसेसं जं च अट्ठण्हं ॥ १२३ ॥”

में यदि कोई जीव मरता है तो वह चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें उत्पन्न हो सकता है। यदि क्षपकश्रेणिका प्रारम्भ बद्धायु जीव करता है, तो अनन्तानुबन्धीके क्षयके पश्चात् उसका मरण होना संभव है। उस अवस्था-में मिथ्यात्वका उदय होनेपर वह जीव पुनः अनन्तानुबन्धीका बन्ध करता है, क्योंकि मिथ्यात्वके उदयमें अनन्तानुबन्धी नियमसे बंधती है। किन्तु

सम्यक्त्व प्रकृतिरूप संक्रमण करता है, तब तकके अन्तमुहूर्त कालको दर्शनमोहके क्षपणका प्रारम्भक काल कहा जाता है। और उस प्रारम्भ कालके अनन्तर समयसे लेकर क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके पहले समय तक-का काल निष्ठापक कहा जाता है। सो निष्ठापक तो जहाँ प्रारम्भ किया था, वहाँ हो, अथवा सौधर्मादि स्वर्गोंमें, अथवा भोग भूमिमें, अथवा घर्मा नामके प्रथम नरकमें होता है। क्योंकि बद्धायु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मरण करके चारों गतियोंमें उत्पन्न हो सकता है।

सम्भवतः ऊपर जिसे 'कृतकरण' कहा है उसे ही दिगम्बर सम्प्र-दायमें 'कृतकृत्य' कहते हैं। जो इस बात को बतलाता है कि उस जीवने अपना कार्य कर लिया, अतः वह कृतकृत्य हो गया। क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अधिकसे अधिक चौथे भवमें नियमसे मोक्ष चला जाता

है। कृतकृत्य वेदकका काल अन्तर्मुहूर्त है। उस अन्तर्मुहूर्तमें यदि मरण हो तो—"देवेसु देवमणुवे सुरणरतिरिये चउगईसुंपि।

कदकरणिज्जुप्पत्ती कमसो अंतोमुहुत्तेण ॥५६२॥" कर्मकाण्ड।

उसके प्रथम भागमें मरनेपर देवगतिमें, दूसरे भागमें मरनेपर देव और मनुष्यगतिमें, तीसरे भागमें मरनेपर देव, मनुष्य और तिर्यञ्चगतिमें, और चौथे भागमें मरनेपर चारों गतिमें कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है।

१ "बद्धाउ पडिवन्नो पढमकसायक्खए जइ मरेज्जा।

तो मिच्छत्तोदयओ विणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि॥१३२३॥विशे०भा०

है। उनके क्षयके[1] पश्चात् उन आठ कषायोंका भी अन्तर्मुहूर्तमें ही क्षय कर देता है। उसके पश्चात् नौ नोकषाय और चार संज्वलन कषायोंमें अन्तरकरण करता है। फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और हास्यादि छह नोकषायोंका क्षपन करता है। उसके बाद पुरुषवेदके तीन खण्ड करके दो खण्डोंका एक साथ क्षपन करता है और तीसरे खण्डको संज्वलन क्रोधमें मिला देता है। यह क्रम पुरुषवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेवालेके लिये है। यदि[2] स्त्री श्रेणि-

१ किसी किसी का मत है कि पहले सोलह प्रकृतियों के ही क्षय का प्रारम्भ करता है, उनके मध्यमें आठ कषायका क्षय करता है, पश्चात् सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है। देखो, पंच० कर्म० प्र० टी० पृ० १३५ और कर्मप्रकृ० सत्ताधि० गा० ५५ की यशो० टी०। कर्मकाण्डमें इस सम्बन्ध में मतान्तर का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"णत्थि अणं उवसमगे खवगापुव्वं खवित्तु अट्ठा य।
पच्छा सोलादीणं खवणं इदि केइ णिद्दिट्ठं ॥ ३९१ ॥"

अर्थात्—'उपशम श्रेणिमें अनन्तानुबन्धिका सत्त्व नहीं होता। और क्षपक अनिवृत्तिकरण पहले आठ कषायों का क्षपण करके पश्चात् सोलह वगैरह प्रकृतियोंका क्षपण करता है, ऐसा कोई कहते हैं।'

२ पञ्चसंग्रह में लिखा है—

"इत्थीउदए नपुंसं इत्थीवेयं च सत्तगं च कमा।
अपुमोदयंमि जुगवं नपुंसइत्थी पुणो सत्त ॥ ३४६ ॥"

अर्थ—स्त्रीवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेपर पहले नपुंसकवेदका क्षय होता है, फिर स्त्री वेदका क्षय होता है, फिर पुरुष वेद और हास्यादिषट्का क्षय होता है। नपुंसकवेदके उदयसे श्रेणि चढ़नेपर नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका एक साथ क्षय होता है, उसके बाद पुरुषवेद और हास्यादिषट्का क्षय होता है।

कर्मकाण्ड गा० ३८८ से भी इसी क्रम को बतलाया है।

उसके अनन्तर समयमें वह सयोगकेवली हो जाता है[2]।

---

१ विशे० भा० में इस क्रमको चित्रण करते हुए लिखा है—

"दंसणमोहखवणे नियट्टि अणियट्टि बायरो परओ।
जाव उ सेसो संजलणलोभमसंखेज्जभागोत्ति ॥ १३३८ ॥
तदसंखिज्जइभागं समए समए खवेइ एक्केक्कं।
तत्थइ सुहुमसरागो लोभाणू जावमेक्को वि ॥ १३३९ ॥
खीणे खवगनिगंठो वीसमए मोहसागरं तरिउं।
अंतोमुहुत्तमुदहिं तरिउं थाहे जहा पुरिसो ॥ १३४० ॥
छउमत्थकालदुचरिमसमए निद्दं खवेइ पयलं च।
चरिमे केवललाभो खीणावरणंतरायस्स ॥ १३४१ ॥

२ आवश्यकनिर्युक्तिकी मलयगिरिकृत टीकामें बारहवें गुणस्थानमें क्षय की जानेवाली प्रकृतियोंके सम्बन्धमें एक मतान्तरका उल्लेख किया है। लिखा है—

"अन्ये त्वेवमभिदधति–द्विचरमे समये क्षीणमोहो निद्रां प्रचलां च क्षपयति, नामश्च इमाः प्रकृतीः, तद्यथा–देवगतिदेवानुपूर्व्यौ, वैक्रियद्विकं, प्रथमवर्जानि पञ्च संहननानि, उदितवर्जानि पञ्च संस्थानानि, आहारकनाम, तीर्थकरनाम च यद्यस्यातीर्थकरः प्रतिपत्ता इति। अत्रार्थे च तन्मतेन तिस्रोऽन्यकर्तृका इमा गाथाः–"वीसमिऊण नियंठो दोहि उ समएहि केवले सेसे। पढमे निद्दं पयलं नामस्स इमाउ पयडीओ ॥ १ ॥ देवगइआणुपुव्वीवेउव्विदसङ्घयणपढमपज्जाइं। अन्नयरं संठाणं तित्थयराहारनामं च ॥ २ ॥ चरमे नाणावरणं पंचविहं दंसणं चउविकप्पं। पंचविहमन्तरायं खवइत्ता केवली होइ ॥ ३ ॥" एतच्च मतमसमीचीनम्, चूर्णिकृता भाष्यकृतः सर्वेषां च कर्मग्रन्थकाराणामसम्मतत्वात्, केवलं चूर्णिकृता केनाप्यभिप्रायेण लिखितमिति। सूत्रेऽप्येता गाथा प्रमादपतिताः, निर्युक्तिकारकृतास्तु एता न भवन्ति, चूर्णौ भाष्ये

द्वारा बादर काययोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्म मनोयोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्म वचनयोगको रोकते हैं। उसके पश्चात् सूक्ष्म काययोग-को रोकनेके लिए सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानको ध्याते हैं। उस ध्यानमें स्थितिघात वगैरहके द्वारा सयोगी अवस्थाके अन्तिम समय पर्यन्त आयु-कर्मके सिवा शेष कर्मोंका अपवर्तन करते हैं। ऐसा करने से अन्तिम समयमें सब कर्मोंकी स्थिति अयोगी अवस्थाके कालके बराबर हो जाती है। इतना विशेष है कि अयोगी अवस्थामें जिन कर्मोंका उदय नहीं होता, उनकी स्थिति एक समय कम होती है। सयोगी अवस्थाके अन्तिम समयमें कोई एक वेदनीय, औदारिक, तैजस, कार्मण, छह संस्थान, प्रथम संहनन, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, शुभ और अशुभ विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर और निर्माण, इन तीस प्रकृतियोंके उदय और उदीरणाका विच्छेद होजाता है। उसके अनन्तर समयमें वह अयोगकेवली होजाते हैं। उस अवस्थामें वह व्युपरतक्रियाप्रतिपाति ध्यानको करते हैं। यहाँ स्थितिघात वगैरह नहीं होता, अतः जिन कर्मोंका उदय होता है उनकी तो स्थिति-का क्षय होनेसे अनुभव करके नष्ट करदेते हैं। किन्तु जिन प्रकृतियोंका उदय नहीं होता, उनका स्तिबुक संक्रमके द्वारा वेद्यमान प्रकृतियोंमें संक्रम करके अयोगी अवस्थाके उपान्त समय तक वेदन करते हैं। उपान्त समयमें ७२ का और अन्त समयमें १३[1] प्रकृतियोंका क्षय करके

---

१ इस सम्बन्धमें मतान्तर है, जिसका उल्लेख छठे कर्मग्रन्थ तथा उसकी टीकामें इस प्रकार किया है—

"तच्चाणुपुव्विसहिया तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि ।
संतं सगमुक्कोसं जहण्णयं बारस हवंति ॥ ६८ ॥
मणुयगइसहगयाओ भवखित्तविवागजीववागत्ति ।
वेयणियन्नयरुच्चं च चरिमभवियस्स खीयंति ॥ ६९ ॥"

अर्थात्—'तद्भव मोक्षगामीके अन्तिम समयमें आनुपूर्वी सहित तेरह

जुगवं संजोगित्ता पुणो वि अणियट्टीकरणबहुभागं ।
थोलिय कमसो मिच्छं मिस्सं सम्मं खवदि कमे ॥ ३३६ ॥"

अर्थात्–नरकायुका सत्त्व रहते हुए देशव्रत नहीं होते, तिर्यगायुके सत्त्वमें महाव्रत नहीं होते, और देवायुके सत्त्वमें क्षपकश्रेणि नहीं होती। अतः क्षपकश्रेणि चढ़नेवाले मनुष्यके नरकायु, तिर्यगायु तथा देवायुका सत्त्व नहीं होता। तथा, असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत संयत मनुष्य पहलेही की तरह अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है। अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका एक साथ विसंयोजन करता है अर्थात् उन्हें बारह कषाय और नौ नोकषायरूप परिणमाता है। उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त तक विश्राम करके दर्शनमोहका क्षपण करनेके लिये पुनः अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करता है। अनिवृत्तिकरणके कालमें से जब एक भाग काल बाकी रहजाता है और बहुभाग बीत जाता है तो क्रमशः मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षपण करता है, और इस प्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि होजाता है। उसके बाद चारित्र मोहनीयका क्षपण करनेके लिये क्षपकश्रेणि चढ़ता है। सबसे पहले सातवें गुणस्थानमें अधःकरण करता है। उसके बाद आठवें गुणस्थानमें पहुंचकर पहले की ही तरह स्थितिखण्डन, अनुभाग खण्डन वगैरह कार्य करता है। उसके बाद नौवे गुणस्थानमें पहुंच कर–

"सोलट्ठेक्किगिछक्कं चदुसेक्कं बादरे अदो एक्कं ।
खीणे सोलसऽजोगे बावत्तरि तेरुवत्तंते ॥ ३३७ ॥"

नानकर्मकी १३ और दर्शनावरणकी तीन, इसप्रकार सोलह प्रकृतियों का क्षपण करता है। उसके बाद उसी गुणस्थानमें क्रमशः आठ कषाय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय, पुरुषवेद, संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान और संज्वलनमायाका क्षपण करता है। उसके बाद दसवें गुणस्थानमें पहुँचकर संज्वलन लोभका क्षपण करता है। दसवेंसे एकदम बारहवें गुण-

'नमिय जिणं धुवबंधोदयसत्ता' आदि पहली गाथामें जिन द्वारोंका वर्णन करनेंकी प्रतिज्ञा ग्रन्थकारनेकी थी, उन द्वारोंका वर्णन समाप्त करके ग्रन्थकार अपना और ग्रन्थका नाम बतलाते हुए ग्रन्थको समाप्त करते हैं—

देविंदसूरिलिहियं सयगमिणं आयसरणट्ठा ॥ १०० ॥

अर्थ—देवेन्द्रसूरिने आत्मस्मरणके लिये **शतक** नामके इस कर्मग्रन्थकी रचनाकी है ।

भावार्थ—इस ग्रन्थके कर्ताका नाम देवेन्द्रसूरि है । इनका विशेष परिचय ग्रन्थकी प्रारम्भिक प्रस्तावनामें दिया गया है। ग्रन्थका नाम **शतक** है क्योंकि इसमें सौ गाथाएँ है । तथा, इस ग्रन्थके बनानेका उद्देश्य ख्याति, लाभ वगैरह नहीं है, किन्तु आत्माके संबोधन के लिये ही इसकी रचनाकी गई है ।

हिन्दी व्याख्या सहित पंचम कर्मग्रन्थ समाप्त ।

स्थानमें पहुंचकर सोलह प्रकृतियोंका क्षपण करता है । फिर सयोगकेवली होकर चौदहवें गुणस्थानमें चला जाता है और उसके उपान्त समयमें ७२ प्रकृतियोंका तथा अन्त समयमें १३ प्रकृतियोंका क्षपण करके मुक्त होजाता है। संक्षेपमें यही क्षपणका क्रम है। विस्तारसे जाननेके लिये लब्धिसारका क्षायिक सम्यक्त्व प्ररूपणाधिकार (गा० ११०-१६७) तथा क्षपणासार देखना चाहिये । क्षपणासार गा० ३९२ की टीकामें स्व०पं० टोडरमलजीने चारित्र मोहनीयकी क्षपणाके प्रारम्भक जीवका वर्णन करते हुए लिखा है कि उसके परिणाम अतिविशुद्ध होते हैं, शुक्ल लेश्या होती है, भाववेद तीनों में से कोई भी हो सकता है किन्तु द्रव्यवेद पुरुषवेद ही होता है, सात मोहनीय और तीन आयुओंके सिवाय शेष प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है । आहारकद्विक और तीर्थङ्करनामका सत्त्व किसीके होता है, किसीके होता है । इत्यादि, अन्य भी अनेक विशेषताएँ बतलाई हैं ।

हिन्दीव्याख्यासहित

पञ्चम कर्मग्रन्थके

परिशिष्ट
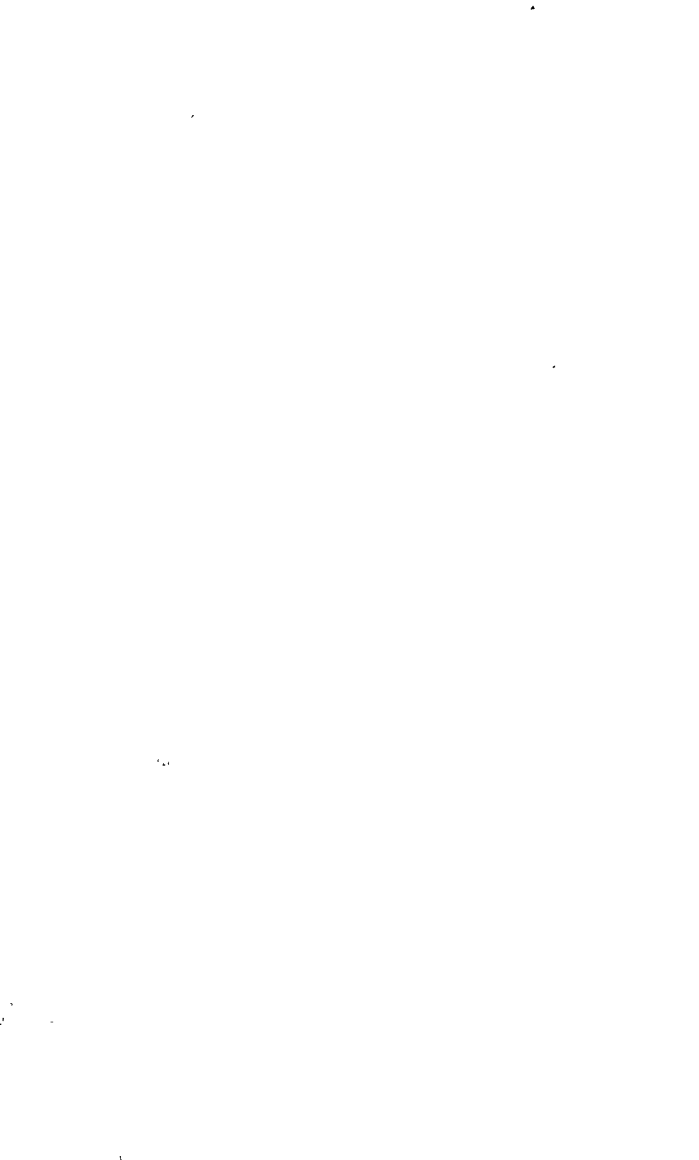
१ पञ्चमकर्मग्रन्थकी मूल गाथाएँ

नमिय जिणं धुववंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता ।
सेयर चउहविवागा वुच्छं वंधविह सामी य ॥ १ ॥
वन्नचउतेयकम्माऽगुरुलहुनिमिणोवघायभयकुच्छा ।
मिच्छकसायावरणा, विग्घं धुववंधि सगचत्ता ॥ २ ॥
तणुवंगाऽऽगिइसंघयणजाइगइखगइपुव्विजिणसासं ।
उज्जोयाऽऽयवपरघातसवीसा गोय वेयणियं ॥ ३ ॥
हासाइजुयलदुगवेयआउ तेउत्तरी अधुववंधा ।
भंगा अणाइसाई, अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥ ४ ॥
पढमविया धुवउदइसु, धुववंधिसु तइयवज्ज भंगतिगं ।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा; दुहा वि अधुवा तुरियभंगा ॥ ५ ॥
निमिण थिरअथिर अगुरुय, सुहअसुहं तेय कम्म चउवन्ना ।
नाणंतराय दंसण, मिच्छं धुवउदय सगवीसा ॥ ६ ॥
थिरसुभियर विणु अद्धुववंधी मिच्छ विणु मोहधुववंधी ।
निद्दोवघाय मीसं, सम्मं पणनवइ अधुवुदया ॥ ७ ॥
तसवन्नवीस सगतेयकम्म धुववंधि सेसवेयतिगं ।
आगिइतिगवेयणियं, दुजुयल सग उरल सासचऊ ॥ ८ ॥
खगईतिरिदुग नीयं, धुवसंता सम्म मीस मणुयदुगं ।
विउविक्कार जिणाऊ, हारसगुच्चा अधुवसंता ॥ ९ ॥
पढमतिगुणेसु मिच्छं, नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं ।
सासाणे खलु सम्मं, संतं मिच्छाइदसगे वा ॥ १० ॥
सासणमीसेसु धुवं, मीसं मिच्छाइनवसु भयणाए ।
आइदुगे अण नियमा, भइया मीसाइनवगम्मि ॥ ११ ॥
आहारसत्तगं वा, सव्वगुणे बितिगुणे विणा तित्थं ।
नोभयसंते मिच्छो, अंतमुहुत्तं भवे तित्थे ॥ १२ ॥

केवलजुयलावरणा, पण निद्दा बारसाइमकसाया ।
मिच्छं ति सव्वघाई, चउनाणतिदंसणावरणा ॥ १३ ॥
संजलण नोकसाया, विग्घं इय देसघाइओ अघाई ।
पत्तेयतणुट्ठाऽऽऊ, तसवीसा गोयदुग वन्ना ॥ १४ ॥
सुरनरतिगुच्च सायं, तसदस तणुवंग वइर चउरंसं ।
परघासग तिरिआउं, वन्नचउ पणिंदि सुभखगई ॥ १५ ॥
बायाल पुन्नपगई, अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरिदुग असाय नीयो्वघाय इंग विगल निरयतिगं ॥ १६ ॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।
पावपयणित्ति दोसु वि, वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥ १७ ॥
नामधुवबंधिनवगं, दंसण पण नाण विग्घ परघायं ।
भय कुच्छ मिच्छ सासं, जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥ १८ ॥
तणुअट्ठ वेय दुजुयल, कसाय उज्जोयगोयदुगनिद्दा ।
तसवीसाऽऽउ परित्ता, खित्तविवागाणुपुव्वीओ ॥ १९ ॥
घणघाइ दुगोय जिणा, तसियरतिग सुभगदुभगचउ सासं ।
जाइतिग जियविवागा, आऊ चउरो भवविवागा ॥ २० ॥
नामधुवोदय चउतणुवघायसाहारणियर जोयतिगं ।
पुग्गलविवागि बंधो, पयइठिइरसपएस त्ति ॥ २१ ॥
मूलपयडीण अडसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा ।
अप्पतरा तिय चउरो, अवट्ठिया न हु अवत्तव्वो ॥ २२ ॥
एगादहिगे भूओ, एगाईऊणगम्मि अप्पतरो ।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ, पढमे समए अवत्तव्वो ॥ २३ ॥
[illegible]व छ चउ दंसे दु दु, ति दु मोहे दु इगवीस सत्तरस ।
[illegible] नव पण चउ ति दु, इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥ २४ ॥
[illegible]व हि[illegible], वीसा तीसेगतीस इग नामे ।
[illegible] अट्ठतिबंधा, सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं ॥ २५ ॥

वीसऽयरकोडिकोडी, नामे गोए य सत्तरी मोहे ।
तीसियर चउसु उदही, निरयसुराउम्मि तित्तीसा ॥ २६ ॥
मुत्तुं अकसायठिइं, बार मुहुत्ता जहण्ण वेयणिए ।
अट्ठऽट्ठ नामगोएसु सेसएसुं मुहुत्तंतो ॥ २७ ॥
विग्घावरणअसाए, तीसं अट्ठार सुहुमविगलतिगे ।
पढमागिइसंघयणे, दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥ २८ ॥
चालीस कसाएसुं, मिउलहुनिद्धुण्हसुरहिसियमहुरे ।
दस दोसड्ढसमहिया, ते हालिद्दंबिलाईणं ॥ २९ ॥
दस सुहविहगइउच्चे, सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे ।
मिच्छे सत्तरि मणुदुग, इत्थी साएसु पन्नरस ॥ ३० ॥
भय कुच्छ अरइसोए, विउव्वितिरिउरलनरयदुग नीए ।
तेयपण अथिरछक्के, तसचउ थावर इग पणिंदी ॥ ३१ ॥
नपु कुखगइ सासचऊ, गुरुकक्खडरुक्खसीय दुगंधे ।
वीसं कोडाकोडी, एवइयाबाह वाससया ॥ ३२ ॥
गुरु कोडिकोडिअंतो, तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
लहुठिइ संखगुणूणा, नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥ ३३ ॥
इगविगल पुव्वकोडिं, पलियासंखंस आउचउ अमणा ।
निरुवकमाण छमासा, अबाह सेसाण भवतंसो ॥ ३४ ॥
लहुठिइबंधो संजलणलोह पणविग्घनाणदंसेसु ।
भिन्नमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्च बारस य साए ॥ ३५ ॥
दो इग मासो पक्खो संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि ।
सेसाणुक्कोसाओ, मिच्छत्तठिईइ जं लद्धं ॥ ३६ ॥
अयमुक्कोसो गिंदिसु, पलियासंखंसहीण लहुबंधो ।
कमसो पणवीसाए, पन्ना-सय-सहससंगुणिओ ॥ ३७ ॥
विगलि असन्निसु जिट्ठो, कणिट्ठओ पल्लसंखभागूणो ।
सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभवं ॥ २८ ॥

सव्वाण वि लहुबंधे; भिन्नमुहु अबाह आउजिट्ठे वि ।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू बिंति आहारं ॥ ३९ ॥
सत्तरस समहिया किर, इगाणुपाणुम्मि हुंति खुड्डभवा ।
सगतीससयतिहुत्तर, पाणू पुण इगमुहुत्तम्मि ॥ ४० ॥
पणसट्ठिसहस पणसय, छत्तीसा इगमुहुत्त खुड्डभवा ।
आवलियाणं दो सय, छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥ ४१ ॥
अविरयसम्मो तित्थं, आहारदुगामराउ य पमत्तो ।
मिच्छद्दिट्ठी बंधइ, जिट्ठठिइं सेसपयडीणं ॥ ४२ ॥
विगलसुहमाउगतिगं, तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुगं ।
एगिंदिथावरायव, आ ईसाणा सुरुक्कोसं ॥ ४३ ॥
तिरिउरलदुगुज्जोयं, छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया ।
आहारजिणमपुव्वोऽनियट्टि संजलण पुरिस लहुं ॥ ४४ ॥
सायजसुच्चावरणा, विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी ।
सन्नी वि आउबायरपज्जेगिंदी उ सेसाणं ॥ ४५ ॥
उक्कोसजहन्नेयर, भंगा साई अणाइ धुव अधुवा ।
चउहा सग अजहन्नो, सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥ ४६ ॥
चउभेओ अजहन्नो, संजलणावरणनवगविग्घाणं ।
सेसतिगि साइअधुवो, तह चउहा सेसपयडीणं ॥ ४७ ॥
साणाइअपुव्वंते, अयरंतोकोडिकोडिओ नऽहिगो ।
बंधो न हु हीणो न य, मिच्छे भवियरसन्निम्मि ॥ ४८ ॥
जइलहुबंधो बायर, पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जऽहिगो ।
एसि अपज्जाण लहू, सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ॥ ४९ ॥
लहु बिय पज्जअपज्जे, अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं ।
ति चउ असन्निसु नवरं, संखगुणो बियअमणपज्जे ॥ ५० ॥
तो जइजिट्ठो बंधो, संखगुणो देसविरय हस्सियरो ।
सम्मचउ सन्निचउरो, ठिइबंधाणुकम संखगुणा ॥ ५१ ॥

सव्वाण वि जिट्ठठिई, असुभा जं साऽइ संकिलेसेणं ।
इयरा विसोहिओ पुण, मुत्तुं नरअमरतिरियाउं ॥ ५२ ॥
सुहुमनिगोयाइखणऽप्पजोग बायरयविगलअमणमणा ।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु, पज्ज हस्सियरो असंखगुणो ॥ ५३ ॥
असमत्ततसुक्कोसो, पज्ज जहन्नियरु एव ठिइठाणा ।
अपजेयर संखगुणा, परमपजबिए असंखगुणा ॥ ५४ ॥
पइखणमसंखगुणविरिय अपज पइठिइमसंखलोगसमा ।
अज्झवसाया अहिया, सत्तसु आउसु असंखगुणा ॥ ५५ ॥
तिरिनिरयतिजोयाणं, नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥ ५६ ॥
अपढमसंघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगथीणतिगं ।
निय नपु इत्थि दुतीसं, पणिंदिसु अबंधठिइ परमा ॥ ५७ ॥
विजयाइसु गेविज्जे, तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं ।
पणसीइ सययबंधो, पल्लतिगं सुरविउव्विदुगे ॥ ५८ ॥
समयादसंखकालं, तिरिदुगनीएसु आउ अंतमुहू ।
उरलि असंखपरट्टा, सायठिई पुव्वकोडूणा ॥ ५९ ॥
जलहिसयं पणसीयं, परघुस्सासे पणिंदि तसचउगे ।
बत्तीसं सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे ॥ ६० ॥
असुखगइजाइआगिइसंघयणाहारनरयजोयदुगं ।
थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसायं ॥ ६१ ॥
समयादंतमुहुत्तं, मणुदुगजिणवइरउरलुवंगेसु ।
तित्तीसयरा परमो, अंतमुहू लहू वि आउजिणे ॥ ६२ ॥
तिव्वो असुहसुहाणं, संकेसविसोहिओ विवज्जयओ ।
मंदरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहिं ॥ ६३ ॥
चउठाणाई असुहो, सुहन्नहा विग्घदेसआवरणा ।
पुमसंजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥ ६४ ॥

निंबुच्छुरसो सहजो, दुतिचउभागकड्ढिइक्कभागंतो ।
इगठाणाई असुहो, असुहाण सुहो सुहाणं तु ॥ ६५ ॥
तिव्वमिगथावरायव, सुरमिच्छा विगलसुहुमनरयतिगं ।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा, तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया ॥ ६६ ॥
विउव्विसुराहारदुगं, सुखगइवन्नचउतेयजिणसायं ।
समचउपरघातसदसपणिंदिसासुच्च खवगा उ ॥ ६७ ॥
तमतमगा उज्जोयं, सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं ।
अपमत्तो अमराउं, चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥ ६८ ॥
थीणतिगं अण मिच्छं, मंदरसं संजमुम्मुहो मिच्छो ।
बियतियकसाय अविरय, देस पमत्तो अरइसोए ॥ ६९ ॥
अपमाइ हारगदुगं, दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा ।
भयमुवघायमपुव्वो, अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥ ७० ॥
विग्घावरणे सुहुमो, मणुतिरिया सुहुमविगलतिगआऊ ।
वेउव्विछक्कममरा, निरया उज्जोयउरलदुगं ॥ ७१ ॥
तिरिदुगनिअं तमतमा, जिणमविरय निरय विणिगथावरयं
आसुहुमायव सम्मो, व सायथिरसुभजसा सिअरा ॥ ७२ ॥
तसवन्नतेयचउमणुखगइदुगपणिंदिसासपरघुच्चं ।
संघयणागिइनपुथीसुभगियरति मिच्छ चउगइया ॥ ७३ ॥
चउतेयवन्न वेयणियनामणुक्कोसु सेसधुवबंधी ।
घाईणं अजहन्नो, गोए दुविहो इमो चउहा ॥ ७४ ॥
सेसम्मि दुहा इगदुगणुगाइ जा अभवणंतगुणियाणू ।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥ ७५ ॥
एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे ।
सुहुमा कमावगाहो, ऊणूणंगुलअसंखंसो ॥ ७६ ॥
इक्किक्कहिया सिद्धाणंतंसा अंतरेसु अगहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया, नियणंतसाहिया जिट्ठा ॥ ७७ ॥

अंतिमचउफासदुगंधपंचवन्नरसकम्मखंधदलं ।
सव्वजियणंतगुणरसमणुजुत्तमणंतयपएसं ॥ ७८ ॥
एगपएसोगाडं, नियसव्वपएसओ गहेइ जिओ ।
थेवो आउ तदंसो, नामे गोए समो अहिओ ॥ ७९ ॥
विग्घावरणे मोहे, सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे ।
तस्स फुडत्तं न हवइ, ठिईविसेसेण सेसाणं ॥ ८० ॥
नियजाइलद्धदलियाणंतंसो होइ सव्वघाईणं ।
बज्झंतीण विभज्जइ, सेसं सेसाण पइसमयं ॥ ८१ ॥
सम्मदरसव्वविरई उ अणविसंजोयदंसखवगे य ।
मोहसमसंतखवगे, खीणसजोगियर गुणसेढी ॥ ८२ ॥
गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए ।
एयगुणा पुण कमसो, असंखगुणनिज्जरा जीवा ॥ ८३ ॥
पलियासंखंसमुहू, सासणइयरगुण अंतरं हस्सं ।
गुरु मिच्छि बे छसट्ठी, इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ॥ ८४ ॥
उद्धार अद्ध खित्तं, पलिय तिहा समयवाससयसमए ।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाणं ॥ ८५ ॥
दव्वे खित्ते काले, भावे चउह दुह बायरो सुहुमो ।
होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥ ८६ ॥
उरलाइसत्तगेणं, एगजिओ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।
जत्तियकालि स थूलो, दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥
लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य ।
जहतहकममरणेणं, पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥ ८८ ॥
अप्पयरपयडिबंधी, उक्कडजोगी य सन्नि पज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोसं, जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥
मिच्छ अजयचउ आऊ, बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई ।
छण्हं सतरस सुहुमो, अजया देसा बितिकसाए ॥ ९० ॥

पण अनियट्टी सुखगइनराउसुरसुभगतिगविउव्विदुगं ।
समचउरंसमसायं, वइरं मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥
निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
आहारदुगं सेसा, उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥
सुमुणी दुन्नि असन्नी, नरयतिग सुराउ सुरविउव्विदुगं ।
सम्मो जिणं जहन्नं, सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥
दंसणछगभयकुच्छाबितितुरियकसायविग्घनाणाणं ।
मूलछगेऽणुक्कोसो, चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥ ९४ ॥
सेढिअसंखिज्जंसे, जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया ।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥ ९५ ॥
तत्तो कम्मपएसा, अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।
जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायाओ ॥ ९६ ॥
चउदसरज्जू लोओ, बुद्धिकओ होइ सत्तरज्जुघणो ।
तद्दीहेगपएसा, सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥
अण दंस नपुंसित्थी, वेय छक्कं च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥
अण मिच्छ मीस सम्मं, तिआउइगविगलथीणतिगुजोयं ।
तिरिनरयथावरदुगं, साहारायवअडनपुत्थी ॥ ९९ ॥
छग पुं संजलणा दो, निद्दा विग्घवरणक्खए नाणी ।
देविंदसूरिलिहियं, सयगमिणं आयसरणट्ठा ॥ १०० ॥

मूल पञ्चम कर्मग्रन्थ समाप्त ।

२ पञ्चम कर्मग्रन्थ की गाथाओं का अकारादि अनुक्रम

२ परिशिष्ट

३ अनुवाद तथा टिप्पणमें उद्धृत अवतरणोंका अकारादि अनुक्रम

३ परिशिष्ट

४ पञ्चमकर्मग्रन्थके अनुवाद तथा टिप्पणी में आगत पारिभाषिक शब्दोंका कोश[1]

1 इसमें प्रायः उन्हीं शब्दोंको स्थान दिया गया है जिनकी परिभाषा अनुवाद टिप्पणमें दी गई है। प्रत्येक शब्द के आगे का अङ्क पृष्ठ का सूचक है, तथा बाद का अङ्क पंक्ति का सूचक है।

आ

उ

ऊ

ए

औ

क

---

१ पञ्चमकर्मग्रन्थके अनुवाद, टिप्पणी तथा प्रस्तावनामें उपयुक्त ग्रन्थोंकी सूची तथा सङ्केतविवरण

अनुयोग० सू०
अनुयोग० } अनुयोगद्वारसूत्र, आगमोदयसमिति सूरत।

अनुयोगद्वार टीका—आगमोदयसमिति सूरत।

अभिधर्म०—अभिधर्मकोश, ज्ञानमण्डल प्रेस काशी।

अभिधर्म० व्या०
अभि० व्या० } अभिधर्मकोशव्याख्या, ज्ञानमण्डल प्रेस काशी।

आव० नि०—आवश्यकनिर्युक्ति, आगमोदयसमिति सूरत।

आव० नि० टी०—आवश्यकनिर्युक्ति मलयटीका, आगमोदयसमिति।

कर्मप्रकृति (चूर्णि सहित)
कर्मप्रकृतिकी उपाध्याय यशोविजयकृत टीका
कर्मप्रकृति मलय० टी०—कर्मप्रकृति की मलयगिरि टीका } मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई गुजरात

कर्मग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका—श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर।

क्षेत्रलोकप्रकाश—देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार संस्था सूरत।

क्षपणासार—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता।

गो० कर्मकाण्ड
कर्मकाण्ड } —गोम्मटसार कर्मकाण्ड, रायचंद्र जैन शास्त्रमाला बम्बई।

---

१ [illegible] जहाँ कहीं केवल कर्मग्रन्थ लिखा है, वहाँ पञ्चम कर्मग्रन्थ समझना चाहिये।

जिस तरह पुद्गलद्रव्यके सबसे छोटे अंशको परमाणु कहते हैं, उसी तरह शक्तिके सबसे छोटे अंश को रसाणु कहते हैं। यहां रसका मतलब खट्टे मीठे आदि पांच प्रकारके रससे नहीं है किन्तु अनुभागबन्ध अथवा रसबन्धका वर्णन करते हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलमें जो मधुर और कटुक ऐसा व्यवहार किया था, उस रससे है। यह रस प्रत्येक पुद्गलमें पाया जाता है। जैसे पुद्गलद्रव्यके स्कन्धोंके टुकड़े किये जा सकते हैं, वैसे उसके अन्दर रहने वाले गुणोंके टुकड़े नहीं किये जा सकते। फिर भी हम अपने सामने आने वाली वस्तुओंमें गुणों की हीनाधिकताको सहजमें ही जानलेते हैं। जैसे, यदि हमारे सामने भैंस, गाय और बकरीका दूध रखा जाये तो हम उसकी परीक्षा करके तुरन्त कह देते हैं कि इस दूधमें चिकनाई अधिक है और इसमें कम है। चिकनाई के टुकड़े नहीं किये जा सकते, क्योंकि वह एक गुण है। किन्तु, विभिन्न वस्तुओंके द्वारा हम उसकी तरतमता को जान सकते हैं। यह तरतमता ही इस बातको बतलाती है कि गुणके भी अंश होते हैं। आजकलके वैज्ञानिक यह खोजा करते हैं कि किस भोज्य वस्तुमें अधिक जीवनदायक शक्ति है और किसमें कम। उनकी ये खोजें कभी कभी समाचारपत्रों में भी पढ़ने को मिलजाती हैं। उनकी तालिकामें लिखा रहता है कि बादाममें प्रतिशत इतनी जीवनी शक्ति

बतलाते हुए लिखा है–

"बादरमष्टस्पर्शं द्रव्यं रूप्येव भवति गुरुलघुकम्।
अगुरुलघु चतुःस्पर्शं सूक्ष्मं वियदाद्यमूर्तमपि ॥ २४ ॥"

अर्थात्–'आठ स्पर्शवाला बादररूपी द्रव्य गुरुलघु होता है, और चार स्पर्शवाला सूक्ष्मरूपी द्रव्य तथा अमूर्त आकाशादिक भी अगुरुलघु होते हैं।' इसके अनुसार तैजस वर्गणामें आठों स्पर्श सिद्ध होते हैं, क्योंकि उसे गुरुलघु बतलाया है। किन्तु कर्मवर्गणामें चार स्पर्श होते हैं इसमें सभीका ऐकमत्य है। दिगम्बर ग्रन्थोंमें भी कर्मयोग्य द्रव्यको चार स्पर्शवाला ही बतलाया है।

है, दूधमें इतनी है इत्यादि। विभिन्न खाद्यों में यह जो जीवनी शक्ति अमुक अमुक अंशमें मौजूद है, यह सिद्ध करती है कि शक्तिके भी अंश हो सकते हैं। इन्हें ही रसके अंश भी कहते हैं, क्यों कि रस शब्दसे भी भी फलदायक शक्ति ही इष्ट है। ये रस के अंश ही रसाणु कहे जाते हैं। सबसे जघन्य रसवाले पुद्गलद्रव्यमें भी जीवराशिसे अनन्तगुणे रसाणु पाये जाते हैं। अतः कर्मस्कन्ध भी सर्व जीवराशिसे अनन्तगुणे रसाणुओंसे युक्त होता है। ये रसाणु ही जीवके भावों का निमित्त पाकर कटुक रूप अथवा मधुर रूप फलदेते हैं। तथा, एक एक कर्मस्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है अर्थात् एक एक कर्मस्कन्ध अनन्त परमाणुओंका समूह होता है, जैसा कि वर्गणाओंके निरूपणसे स्पष्ट है। इस प्रकार जीवके द्वारा ग्रहण करने योग्य कर्मस्कन्धों का स्वरूप जानना चाहिये।

---

१ रसाणुको गुणाणु या भावाणु भी कहते हैं, जैसा कि पञ्चसङ्ग्रहमें लिखा है—

"पञ्चण्ह सरीराणं परमाणूणं मईए अविभागो।
कप्पियगाणेगंसो गुणाणु भावाणु वा होंति ॥ ४१७ ॥"

अर्थात्–पांच शरीरोंके योग्य परमाणुओंकी रस शक्तिका बुद्धिके द्वारा खण्ड करनेपर जो अविभागी एक अंश होता है, उसे गुणाणु या भावाणु कहते हैं। और भी—

"जीवस्सज्झवसाया सुभासुभासंखलोगपरिमाणा।
सव्वजियाणंतगुणा एक्केक्के होंति भावाणू ॥ ४३६ ॥"

अर्थात्–अनुभागके कारण जीवके कषायोदय रूप परिणाम दो तरहके होते हैं–एक शुभ और दूसरे अशुभ। शुभ परिणाम असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर होते हैं और अशुभ परिणाम भी उतने ही होते हैं। एक एक परिणामके द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलोंमें सर्वजीवोंसे अनन्तगुणे भावाणु होते हैं।

ग करता है, जो उसके गिरनेके स्थान पर मौजूद हो, उसे छोड़कर दूर
जल ग्रहण नहीं करता है। इसी तरह जीव भी जिन आकाश प्रदेशोंमें
स्थित होता है, उन्हीं आकाश प्रदेशोंमें रहने वाली कर्मवर्गणाको ग्रहण
करता है। तथा जैसे तपाया हुआ लोहेका गोला जलमें गिरने पर चारों
ओरसे पानीको खींचता है, उसी तरह जीव भी सर्व आत्म प्रदेशोंसे कर्मोंको
ग्रहण करता है। ऐसा नहीं है कि आत्माके अमुक हिस्सेसे ही कर्मोंका
ग्रहण करता हो, किन्तु आत्माके समस्त प्रदेशोंसे कर्मों को ग्रहण करता है।
इस प्रकार वे कर्मस्कन्ध कैसे हैं और जीव उन्हें कैसे ग्रहण करता है इन
पर विचार किया गया।

इस प्रकार ग्रहणकिये हुए कर्मस्कन्धोंका आठो कर्मोंमें जिस क्रमसे
विभाग होता है, उसे बतलाते हैं—

थेवो आउ तदंसो, नामे गोए समो अहिउ ॥ ७९ ॥
विग्घावरणे मोहे सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे।
तस्स फुडत्तं न हवई ठिईविसेसेण सेसाणं ॥ ८० ॥

अर्थ—आयुकर्म का हिस्सा थोड़ा है, नाम और गोत्रकर्म का हिस्सा
आपसमें समान है, किन्तु आयुकर्मके हिस्से से अधिक है। इसी तरह
अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण का हिस्सा आपसमें समान है,
किन्तु नाम और गोत्रकर्मके हिस्सेसे अधिक है। उससे अधिक मोहनीयका

---

१ पञ्चसंग्रहमें लिखा है–

"कमसो वुड्ढठिईणं भागो दलियस्स होइ सविसेसो।
तइयस्स सव्वजेट्ठो, तस्स फुडत्तं जओणप्पे ॥२८५॥"

अर्थात्–अधिक स्थितिवाले कर्मोंका भाग क्रमसे अधिक होता है।
किन्तु वेदनीयका भाग सबसे ज्येष्ठ होता है, क्योंकि अल्पदल होनेपर
उसका स्पष्ट अनुभव नहीं हो सकता।

भाग है। और सबसे अधिक वेदनीयकर्मका भाग है, क्योंकि थोड़े द्रव्यके होने पर वेदनीयकर्मका अनुभव स्पष्टरीतिसे नहीं हो सकता है। वेदनीयके सिवाय शेष सातकर्मोंको अपनी अपनी स्थितिके अनुसार भाग मिलता है। अर्थात् जिस कर्मकी अधिक स्थिति है उसे अधिक भाग मिलता है और जिस कर्मकी हीन स्थिति है उसे हीन भाग मिलता है।

भावार्थ–जिस प्रकार भोजन उदरमें जानेके बाद कालक्रमसे रस रुधिर आदि रूप हो जाता है, उसी तरह जीव प्रतिसमय जिन कर्मवर्गणाओंको ग्रहण करता है, वे कर्मवर्गणाएँ उसी समय उतने हिस्सोंमें बंट जाती हैं, जितने कर्मोंका बन्ध उस समय उस जीवके होता है। पहले लिख आये हैं कि आयुकर्मका बन्ध सर्वदा नहीं होता, और जब होता है तो अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है, उसके बाद नहीं होता। अतः जिस समय जीव आयुकर्मका बन्ध करता है उस समय जो कर्मदल ग्रहण किये जाते हैं, उसके आठ भाग हो जाते हैं। जिस समय आयुकर्मका बन्ध नहीं करता, उस समय जो कर्मदल ग्रहण करता है, उनका बटवारा आयुकर्मके सिवाय शेप सात कर्मोंमें होजाता है। जब दसवें गुणस्थान में आयु और मोहनीय कर्मके सिवाय शेप छह कर्मोंका बन्ध करता है, उस समय गृहीत कर्मदलके ६ भाग हो जाते हैं। और जिस समय एक कर्मका ही बन्ध करता है उस समय ग्रहण किये हुए कर्मदल उस एक कर्मरूप ही हो जाते हैं। यहां ग्रहण किये हुए कर्मदलका आठों कर्मोंमें विभाजित होनेका क्रम बतलाया है। आयुकर्मका भाग सबसे थोड़ा है, क्यों कि दूसरे कर्मोंसे उसकी स्थिति थोड़ी है। आयुकर्मसे नाम और गोत्र, इन दोनों कर्मोंका भाग अधिक है, क्योंकि आयुकर्मकी स्थिति तेतीस सागर है और नाम तथा गोत्रकर्मकी स्थिति बीस कोटी कोटी सागर है। नाम और गोत्रकी स्थिति समान है, अतः उन्हें हिस्सा भी बराबर बराबर ही मिलता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मकी स्थिति तीस कोटी कोटी सागर है

अतः नाम और गोत्रकर्मसे इन तीनों कर्मोंका भाग अधिक है। तथा इन तीनों कर्मोंकी स्थिति समान है, अतः उनका भाग भी बराबर बराबर होता है। इन तीनों कर्मोंसे मोहनीयकर्मका भाग अधिक है क्योंकि उसकी स्थिति सत्तर कोटिकोटि सागर है। और वेदनीय कर्मका भाग सबसे अधिक है। यद्यपि मोहनीय कर्मकी स्थितिसे वेदनीय कर्मकी स्थिति बहुत कम है, तथापि मोहनीयके भागसे वेदनीय कर्मका भाग अधिक है। क्योंकि बहुत द्रव्यके बिना वेदनीय कर्मके सुख दुःखादिकका अनुभव स्पष्ट नहीं होता है। वेदनीयको अधिक पुद्गल मिलनेपर ही वह अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है। थोड़े दल होनेपर वेदनीय प्रकट ही नहीं होता। इसीसे थोड़ी स्थितिके होनेपर भी उसे सबसे अधिक भाग मिलता है।

---

१ वेदनीयकर्मको सबसे अधिक भाग मिलनेके बारेमें कर्मकाण्डमें लिखा है-

'सुहदुक्खणिमित्तादो बहुणिज्जरगो त्ति वेयणीयस्स।
सव्वेहिंतो बहुगं दव्वं होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥ १९३ ॥'

अर्थात्-सुख और दुःखके निमित्तसे वेदनीयकर्मकी निर्जरा बहुत होती है। अर्थात् प्रत्येक जीव प्रति समय सुख या दुःखका वेदन करता रहता है, अतः वेदनीय कर्मका उदय प्रतिक्षण होनेसे उसकी निर्जरा भी अधिक होती है। इसीसे उसका द्रव्य सबसे अधिक होता है, ऐसा कहा है।

२ कर्मग्रन्थमें केवल विभागका क्रम ही बतलाया है, और उससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि अमुक कर्मको अधिक भाग मिलता है और अमुकको कम भाग मिलता है। किन्तु कर्मकाण्डमें इस क्रमके साथ ही साथ विभागकी रीति भी बतलाई है, जो इस प्रकार है-

'बहुभागे समभागो अट्ठण्हं होदि एक्कभागम्हि।
उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥ १९५ ॥'

अर्थात्-बहुभागके समान भाग करके आठों कर्मोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें पुनः बहुभाग करना चाहिये, और वह बहु-

मूल प्रकृतियोंमें विभागका क्रम बतलाकर, अब उत्तर प्रकृतियोंमें उसका क्रम बतलाते हैं—

नियजाइलद्धदलियाणंतंसो होइ सव्वघाईणं।
बज्झंतीण विभज्जइ सेसं सेसाण पइसमयं ॥ ८१ ॥

---

४ से भाग देनेपर लब्ध १६०० आता है। इस सोलह सौ को ६४०० में से घटाने पर ४८०० बहुभाग आता है। यह बहुभाग वेदनीयकर्मका है। शेष १६०० में ४ का भाग देनेपर लब्ध ४०० आता है। १६०० में से ४०० को घटानेपर बहुभाग १२०० आता है। यह बहुभाग मोहनीयकर्मका है। शेष एक भाग ४०० में ४ का भाग देनेपर लब्ध १०० आता है। ४०० में से १०० को घटानेपर बहुभाग ३०० आता है। बहुभागके तीन समान भाग करके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायको १००, १०० दे देना चाहिये। शेष १०० में ४ का भाग देनेसे लब्ध २५ आता है। १०० में से २५ को घटानेपर बहुभाग ७५ आता है। यह बहुभाग नाम और गोत्रकर्मका है। शेष एक भाग २५ आयुकर्मको दे देना चाहिये। अतः प्रत्येक कर्मके हिस्से में निम्न द्रव्य आता है—

वेदनीय	मोहनीय	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	अन्तराय	नाम	गोत्र	आयु
२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
४८००	१२००	१००	१००	१००	३७½	३७½	२५
७२००	३६००	२५००	२५००	२५००	२४३७½	२४३७½	२४२५

इस प्रकार २५६०० में इतना इतना द्रव्य उस उस कर्मरूप परिणत होता है। यह अङ्कसंदृष्टि केवल विभागकी रूपरेखा समझानेके लिये है। इसे वास्तविक न समझ लेना चाहिये। अर्थात् ऐसा न समझ लेना चाहिये कि जैसे इसमें वेदनीयका द्रव्य मोहनीयसे ठीक दुगुना है, वैसेही वास्तवमें भी दुगुना ही द्रव्य होता है। आदि

जो भाग मिलता है, उसका अनन्तवां भाग सर्वघातिप्रकृ-
: और शेष बहुभाग बन्धनेवाली देशघातिप्रकृतियोंमें बँट
। इसका खुलासा इस प्रकार है—
णकी उत्तर प्रकृतियाँ पाँच हैं। उनमेंसे एक केवलज्ञानावरण
घातिनी है और शेष चार देशघातिनी हैं। जो पुद्गलद्रव्य
वरणरूप परिणत होता है, उसका अनन्तवां भाग सर्वघाती है अतः
केवलज्ञानावरणको मिलता है। और शेष देशघाती द्रव्य चार देश-
प्रकृतियोंमें विभाजित होजाता है। दर्शनावरणकी उत्तरप्रकृतियां नौ
। उनमें केवल दर्शनावरण और पाँचो निद्राएँ सर्वघातिनी हैं और शेष
न प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं। दर्शनावरणरूप जो द्रव्य परिणत होता है
सका अनन्तवां भाग सर्वघाती है, अतः वह छह सर्वघातिप्रकृतियोंमें
विभाजित होजाता है और शेष द्रव्य तीन देशघातिप्रकृतियोंमें बंट जाता
है। वेदनीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियां दो हैं, किन्तु उनमेंसे प्रतिसमय एक ही

मिल जाता है, और दर्शनावरणका शेष द्रव्य तीन भागोंमें विभाजित होकर
उसकी तीन देशघातिप्रकृतियोंको मिल जाता है। किन्तु अन्तराय कर्मको जो
भाग मिलता है, वह पूराका पूरा पाँच भागोंमें विभाजित होकर उसकी पाँचो
देशघातिप्रकृतियोंको मिल जाता है, क्योंकि अन्तरायकी कोई भी प्रकृति
सर्वघातिनी नहीं है।

सर्वघाती और देशघाती द्रव्यके बटवारेके सम्बन्धमें पञ्चसंग्रहमें भी
ऐसा ही लिखा है—

'सव्वुक्कोसरसो जो मूलविभागस्सणंतिमो भागो।
सव्वघाईण दिज्जइ सो इयरो देसघाईणं ॥ ४३४ ॥'

अर्थात्—मूलप्रकृतिको मिले हुए भागका अनन्तवां भाग प्रमाण जो
उत्कृष्ट रसवाला द्रव्य है, वह सर्वघातिप्रकृतियोंको मिलता है, और शेष
[illegible] देशघातिप्रकृतियोंको दिया जाता है।

तियोंमें बंट जाता है। अर्थात् गति, जाति, शरीर, उपाङ्ग, बन्धन, सङ्घातन, संहनन, संस्थान, आनुपूर्वी, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, पराघात, उद्योत, उपघात, उच्छ्वास, निर्माण, तीर्थङ्कर, आतप, शुभाशुभ विहायोगति, और

---

१ कर्मकाण्डमें गाथा १९९ से २०६ तक उत्तरप्रकृतियोंमें पुद्गलद्रव्यके बटवारेका वर्णन किया है। कर्मकाण्डके अनुसार घातिकर्मोंको जो भाग मिलता है उसमेंसे अनन्तवां भाग सर्वघाती द्रव्य होता है और शेष बहुभाग देशघाती द्रव्य होता है, जैसा कि कर्मग्रन्थका भी आशय है। किन्तु कर्मकाण्डके मतसे सर्वघाती द्रव्य सर्वघाती प्रकृतियोंको भी मिलता है और देशघाती प्रकृतियोंको भी मिलता है। जैसा कि उसमें लिखा है—

'सव्वावरणं दव्वं विभजजणिज्जं तु उभयपयडीसु।
देसावरणं दव्वं देसावरणेसु णेविदरे ॥'

अर्थात्–सर्वघाती द्रव्यका विभाग दोनों तरहकी प्रकृतियोंमें करना चाहिये। किन्तु देशघाती द्रव्यका विभाग देशघातिप्रकृतियोंमें ही करना चाहिये। कर्मकाण्डके अनुसार प्रत्येक कर्मके विभागकी रीति निम्नप्रकार है-ज्ञानावरणके—सर्वघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, बहुभागके पांच समान भाग करके पांचों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, बहुभाग मतिज्ञानावरणको, शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर दूसरा बहुभाग श्रुतज्ञानावरणको, शेष एक भागमें पुनः आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर तीसरा बहुभाग अवधिज्ञानावरणको, इसी तरह चौथा बहुभाग मनःपर्ययज्ञानावरणको और शेष एक भाग केवलज्ञानावरणको देना चाहिये। पहिलेके समान भागमें अपने अपने बहुभागको मिलानेसे मतिज्ञानावरण वगैरहका सर्वघाती द्रव्य होता है।

अनन्तवें भागके सिवाय शेष बहुभाग द्रव्य देशघाती होता है। यह देशघाती द्रव्य केवलज्ञानावरणके सिवाय शेष चार देशघाती प्रकृतियोंको

क अथवा स्थावरदशकमें से जितनी प्रकृतियां एक समयमें बन्धको
होती हैं, उतने भागोंमें वह भाग बंट जाता है। विशेषता यह
कि वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शको जितना जितना भाग मिलता है वह
के अवान्तर भेदोंमें बंट जाता है। जैसे, वर्णनामको जो भाग मिलता है
पांच भागोंमें विभाजित होकर उसके शुक्लादिक भेदोंमें बंट जाता है।

लता है। विभागकी रीति ऊपरके अनुसार ही है। अर्थात् देशघाती द्रव्यमें
आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, शेष
बहुभागके चार समान भाग करके चारों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना
चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग
निकालते जाना चाहिये और वह बहुभाग मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण
आदिको नम्बरवार देना चाहिये। अपने अपने सर्वघाती और देशघाती
द्रव्यको मिलानेसे अपने अपने सर्वद्रव्यका परिमाण होता है।

दर्शनावरणके—सर्वघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग
देकर एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके नौ भाग करके दर्शनावरणकी
नौ प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके
असंख्यातवें भागका भाग देदेकर बहुभाग निकालना चाहिये, और पहला
बहुभाग स्त्यानगृद्धिको, दूसरा निद्रानिद्राको, तीसरा प्रचला प्रचलाको, चौथा
निद्राको, पाँचवा प्रचलाको, छठां चक्षुदर्शनावरणको, सातवां अचक्षुदर्शना-
वरणको, आठवां अवधिदर्शनावरणको, और शेष एक भाग केवलदर्शनावरण
को देना चाहिये। इसी प्रकार देशघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भाग
का भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभागके तीन समान भाग करके
देशघाती चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरणको
एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें भी भाग देदेकर बहुभाग
चक्षुदर्शनावरणको दूसरा बहुभाग अचक्षुदर्शनावरणको और शेष एक भाग
अवधिदर्शनावरणको देना चाहिये। अपने अपने भागोंका संकलन करनेसे

इसीप्रकार गन्ध, रस और स्पर्श नामको जो भाग मिलता है, वह उनके भेदोंमें विभाजित होजाता है । तथा, संघात और शरीर नामकर्मको जो भाग मिलता है वह तीन या चार भागोंमें विभाजित होकर संघात और शरीरनामकी तीन या चार प्रकृतियोंको मिल जाता है । यदि औदारिक, तैजस और कार्मण या वैक्रिय, तैजस और कार्मण, इन तीन शरीरों और

अपने अपने द्रव्यका प्रमाण होता है । चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरणका द्रव्य सर्वघाती भी है और देशघाती भी । शेष छह प्रकृतियोंका द्रव्य सर्वघाती ही होता है, क्योंकि वे सर्वघातिप्रकृतियां हैं ।

अन्तरायकर्मके—द्रव्यमें उक्त प्रतिभागका भाग देकर, एक भागके विना, शेष बहुभागके पांच समान भाग करके पांचों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये । अवशेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग वीर्यान्तरायको देना चाहिये । शेष एक भागमें पुनः प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग उपभोगान्तरायको देना चाहिये । इसी प्रकार जो जो अवशेष एक भाग रहे, उसमें प्रतिभागका भाग देदेकर बहुभाग भोगान्तराय और लाभान्तरायको देना चाहिये । शेष एक भाग दानान्तरायको देना चाहिये । अपने अपने समान भागमें अपना अपना बहुभाग मिलानेसे अपना अपना द्रव्य होता है ।

मोहनीयकर्मके—सर्वघाती द्रव्यको प्रतिभाग आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके सत्रह समान भाग करके सत्रह प्रकृतियोंको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग मिथ्यात्वको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग अनन्तानुबन्धी लोभको देना चाहिये । शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग अनन्तानुबन्धी मायाको देना चाहिये । इसी प्रकार जो जो एक भाग शेष रहता जाय उसको प्रतिभागका भाग दे देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी क्रोधको, अनन्तानुबन्धी मानको, संज्वलन

२०. प्रदेशबन्धद्वार

[८१]

तोंका एक साथ बन्ध होता है तो उसके तीन भाग होजाते हैं । और
वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर तथा संघातका बन्ध होता
तो चार विभाग होजाते हैं । तथा, बन्धन नामको जो भाग मिलता है,
सके यदि तीन शरीरोंका बन्ध हो तो सात भाग होते हैं और यदि चार

लोभको, संज्वलन मायाको, संज्वलन क्रोधको, संज्वलन मानको, प्रत्याख्या-
नावरण लोभको, प्रत्याख्यानावरण मायाको, प्रत्याख्यानावरण क्रोधको,
प्रत्याख्यानावरण मानको, अप्रत्याख्यानावरण लोभको अप्रत्याख्यानावरण
मायाको, अप्रत्याख्यानावरण क्रोधको देना चाहिये । शेष एक भाग
अप्रत्याख्यानावरण मानको देना चाहिये । अपने अपने एक एक भागमें
पीछेके अपने अपने बहुभागको मिलानेसे अपना अपना सर्वघाती द्रव्य
होता है ।

देशघाती द्रव्यको आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भाग
को जुदा रख, बहुभागका आधा तो नोकषायको देना चाहिये, और बहु-
भागका आधा और शेष एक भाग संज्वलन कषायको देना चाहिये ।
संज्वलनकषायके देशघाती द्रव्यमें प्रतिभागका भाग देकर, एक भागको
जुदा रख, शेष बहुभागके चार समान भाग करके चारों कषायोंको एक एक
भाग देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग
संज्वलन लोभको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर
बहुभाग संज्वलन मायाको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग
देकर बहुभाग संज्वलनक्रोधको देना चाहिये । शेष एक भाग संज्वलनमान-
को देना चाहिये । पहलेके अपने अपने एक भागमें पीछेका बहुभाग मिलाने
से अपना अपना देशघाती द्रव्य होता है । चारों संज्वलन कषायोंका अपना
अपना सर्वघाती और देशघाती द्रव्य मिलानेसे अपना अपना सर्वद्रव्य
होता है । मिथ्यात्व और बारह कषायका सब द्रव्य सर्वघाती ही है, और
नोकषायका सब द्रव्य देशघाती ही है । नोकषायका विभाग इस प्रकार हो

शरीरोंका बन्ध हो तो ग्यारह भाग होते हैं। अर्थात् औदारिक औदारि औदारिक तैजस, औदारिक कार्मण, औदारिक तैजसकार्मण, तैजस तैज तैजस कार्मण और कार्मण कार्मण, इन सात बन्धनोंका बन्ध होनेपर सा भाग होते हैं, अथवा वैक्रिय वैक्रिय, वैक्रिय तैजस, वैक्रिय कार्मण, वैक्रि

हैं–नोकषायके द्रव्यको प्रतिभागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख बहुभागके पांच समान भाग करके पांचो प्रकृतियोंको एक एक भाग देन चाहिये। शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग, तीनों वेदोंमे से जिस वेदका बन्ध हो, उसे देना चाहिये। शेष एक भागको प्रतिभागक भाग देकर, बहुभाग रति और अरतिमेंसे जिसका बन्ध हो, उसे देना चाहिये। शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग हास्य और शोकमेंसे जिसका बन्ध हो, उसे देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर, बहुभाग भयको देना चाहिये। शेष एक भाग जुगुप्साको देना चाहिये। अपने अपने एक एक भागमें पीछेका बहुभाग मिलानेसे अपना अपना द्रव्य होता है।

नामकर्मकी—तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रियजाति, औदारिक तैजस कार्मण ये तीन शरीर, हुंडक संस्थान, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तिर्यञ्चानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण, इन तेईस प्रकृतियोंका एक साथ बन्ध मनुष्य अथवा तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि करता है। नामकर्मको जो द्रव्य मिला हो, उसमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभाग के इक्कीस समान भाग करके एक एक प्रकृतिको एक एक भाग देना चाहिये। ऊपर लिखी तेईस प्रकृतियोंमें औदारिक, तैजस और कार्मण ये तीनों प्रकृतियां एक शरीरनाम पिंडप्रकृतिके ही अवान्तर भेद हैं। अतः उनको पृथक् पृथक् द्रव्य न मिल कर एक शरीर नामको ही हिस्सा मिलता है। इससे इक्कीस ही भाग किये हैं। अस्तु,

तैजस कार्मण, तैजस तैजस, तैजसकार्मण, और कार्मण कार्मण, इन सात बन्धनोंका बन्ध होनेपर सात भाग होते हैं। और वैक्रिय चतुष्क, आहारक चतुष्क तथा तैजस और कार्मणके तीन, इस प्रकार ग्यारह बन्धनोंका बन्ध

शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग अन्तकी निर्माण प्रकृतिको देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग अयशःकीर्तिको देना चाहिये। शेष एक भागमें पुनः प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग अनादेयको देना चाहिये। इसी प्रकार जो जो एक भाग शेष रहे, उसमें प्रतिभागका भाग दे दे कर बहुभाग दुर्भग, अशुभ वगैरहको देना चाहिये। अन्तमें जो एक भाग रहे, वह तिर्यग्गतिको देना चाहिये।

पहलेके अपने अपने समान भागमें पीछेका भाग मिलनेसे अपना अपना द्रव्य होता है। जहां पच्चीस, छब्बीस, अट्ठाईस, उनतीस, तीस या इकतीस प्रकृतिका एक साथ बन्ध होता है, वहां भी इसी प्रकार बटवारेका क्रम जानना चाहिये। किन्तु जहां केवल एक यशःकीर्तिका ही बन्ध होता है, वहां नामकर्मका सब द्रव्य इस एक प्रकृतिको ही मिलता है। नामकर्मके उक्त बन्धस्थानोंमें जो पिण्ड प्रकृतियां है, उनके द्रव्यका बटवारा उनकी अवान्तर प्रकृतियोंमें होता है। जैसे, ऊपरके बन्धस्थानमें शरीरनाम पिण्ड प्रकृतिके तीन भेद हैं, अतः बटवारेमें शरीरनामको जो द्रव्य मिलता है, उसमें प्रतिभागका भाग देकर, बहुभागके तीन समान भाग करके, तीनोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग कार्मणशरीरको देना चाहिये। शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग तैजसको देना चाहिये। शेष एक भाग औदारिकको देना चाहिये। ऐसे ही अन्य पिण्ड प्रकृतियोंमें भी समझना चाहिये। जहां पिण्ड प्रकृतिकी अवान्तर प्रकृतियोंमेंसे एकही प्रकृतिका बन्ध होता हो, वहां पिण्डप्रकृतिका सब द्रव्य उस एकही प्रकृतिको देना चाहिये।